विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम रायपुर

वर्ष-११
अंक- २

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल-मई-जून

★ १९८१ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी शंकरचैतन्य

वार्षिक ८)

एक प्रति २।)

आजीवन सदस्यता शुल्क-१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर-४९२००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

—।०।—

कवर चित्र परिचय – स्वामी विवेकानन्द

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर
प्राप्त कराये गये कागज पर मुद्रित

मुद्रण स्थल : नरकेसरी प्रेस, रायपुर–४९२००१ (म. प्र.)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(५३ वीं तालिका)

१६६६. श्री मृत्युन्जय कर्माकर, यवतमाल।
१६६७. श्री मानवेन्द्र जनार्दन घाटे, जबलपुर।
१६६८. श्री अरविन्द कुमार पाण्डे, अमरकन्टक।
१६६९. श्री कालिका कुमार सिंह, प्रतापपुर (महा.)।
१६७०. श्री अग्रवाल सेठ, खामगाँव (महा.)।
१६७१. श्री वेद प्रकाश गुप्ता, अलीगढ़।
१६७२. श्री अजीत मोहन शर्मा, भोपाल।
१६७३. श्री बी. एल. सोलंकी, राँची।
१६७४. श्री कपिलराम साहू, बेमेतरा, दुर्ग।
१६७५. श्री ईश्वर जी देसाई, बम्बई।
१६७६. श्री उमा शंकर शर्मा, बरेली।
१६७७. श्रीमती निरेन्द्री वर्मा, रायपुर।
१६७८. श्री सतीश कुमार, द्विवेदी, भिलाई।
१६७९. श्री प्रेम नाथ महेन्द्र, इलाहाबाद।
१६८०. श्री सावलदास गट्टानी, कटनी।
१६८१. श्री बी. पी. ठाकुर, दुर्ग।
१६८२. श्री ए. पी. श्रीवास्तव, शांति कुंज, हरिद्वार।
१६८३. श्री एल. आर. शर्मा, परवानू (हि. प्र.)।
१३८४. श्रीमती शारदा देवी, कलकत्ता।
१६८५. डा. प्रेम प्रकाश लक्कड़, नागपुर।
१६८६. श्री आर. बी. त्रिपाठी, रीवा।
१६८७. श्री नागेश्वर प्रसाद त्रिपाठी, रीवा।
१६८८. श्री सी. एस. पाठक, बुलढाणा।
१६८९. श्री भाल चन्द्र शास्त्री, उज्जैन।
१६९०. श्री क्षीर सागर सोनी, भिलाई।
१६९१. श्री दुर्गा प्रसाद खण्डेलवाल, ग्वालियर।
१६९२. श्री जे डी. सक्सेना, बिलासपुर।
१६९३. श्री रामानुज अग्रवाल, पोन्ड्री हिल, सरगुजा।

१६९४. श्री चन्द्र प्रकाश दुबे, रायपुर ।
१६९५. श्री ड़ी. पी. साहा, रायपुर ।
१६९६. श्री टी. एन. पार्थसारथी, इन्दौर ।
१६९७. श्री हिमाचल मांढरिया, भिलाई ।
१६९८. श्री के आर जग्गी, भिलाई ।
१६९९. श्री के. एल. कौल, श्रीनगर ।
१७००. श्री नेहरूराम वर्मा, सिलतरा, रायपुर

पाठकों को विशेष सुविधा

विवेक-ज्योति के पुराने निम्न १४ अंक मात्र १०)
अग्रिम भेजकर बिना अतिरिक्त डाक खर्च के प्राप्त करें।
अन्यथा वी. पी. व्यय ग्राहकों को देय होगा ।

वर्ष ९ सन् १९७१ का अंक-२	प्रति अंक मूल्य	१)
,, १० ,, १९७२ का अंक ४	,,	,,
,, ११ ,, १९७३ का अंक-२,३	,,	,,
,, १२ ,, १९७४ का अंक-२,३,४	,,	१)५०
,, १३ ,, १९७५ का अंक-३,४	,,	,,
,, १४ ,, १९७६ का अंक-१,३,४	,,	,,
,, १८ ,, १९८० का अंक-३,४	,,	१)५०

लिखें-व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय,
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

कुछ नई प्रकाशित पुस्तकें

१. स्तवसुमनांजलिः-मूल्य ५) डाक खर्च अतिरिक्त ।
२. ध्यान, धर्म तथा साधना-मूल्य ७) डाक खर्च अतिरिक्त
(स्वामी ब्रह्मानन्दजी के उपदेश)
३. धर्म जीवन तथा साधना-मूल्य १) डाक खर्च अतिरिक्त
(स्वामी यतीश्वरानन्द)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १९] अप्रैल-मई-जून ★ १९८१ ★ अंक २

वासनाक्षय ही जीवन्मुक्ति

क्रियानाशे भवेच्चिन्तानाशोऽस्माद्वासनाक्षयः।
वासनाप्रक्षयो मोक्षः सा जीवन्मुक्तिरिष्यते ।।

--क्रिया के (कर्मों में कर्तापन के) नष्ट हो जाने से चिन्ता का नाश होता है और चिन्ता के नाश से वासनाओं का क्षय होता है, इस वासनाक्षय का नाम ही मोक्ष है और यही जीवन्मुक्ति कहलाती है।

--विवेकचूड़ामणि, ३१८

अग्नि-मंत्र

(श्रीयुत शरच्चन्द्र चक्रवर्ती को लिखित)

अलमोड़ा।

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय।

यस्य वीर्येण कृतिनो वयं च भुवनानि च।
रामकृष्णं सदा वन्दे शर्वं स्वतन्त्रमीश्वरम्॥

"प्रभवति भगवान् विधि" इत्यागामिनः अप्रयोगनिपुणाः प्रयोगनिपुणाश्च पौरुषं बहुमन्यमानाः। तयोः पौरुषेयापौरुषेयप्रतीकारबलयोः विवेकाग्रहनिबन्धनः कलह इति मत्वा यतस्वायुष्मन् शरच्चन्द्र आक्रमितुं ज्ञानगिरिगुरोर्गरिष्ठं शिखरम्।

यदुक्तं "तत्त्वनिकषग्रावा विपदिति" उच्येत तदपि शतशः "तत्त्वमसि" तत्त्वाधिकारे। इदमेव तन्निदानं वैराग्यरुजः। धन्यं कस्यापि जीवनं तल्लक्षणाक्रान्तस्य। अरोचिष्णु अपि निर्दिशामि पदं प्राचीनं--"कालः कश्चित् प्रतीक्ष्यताम्" इति। समारूढक्षेपणीक्षेपणश्रमः विश्राम्यतां तन्निर्भरः। पूर्वाहितो वेगः पारं नेष्यति नावम्। तदेवोक्तं--"तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति", "न धनेन न प्रजया त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" इत्यत्र त्यागेन वैराग्यमेव लक्ष्यते। तद्वैराग्यं वस्तुशून्यं वस्तुभूतं वा। प्रथमं यदि, न तत्र यतेत कोऽपि कीटभक्षितमस्तिष्केन विना; यद्यपरं, तदिदम् आपतत--त्यागः मनसः संकोचनम् अन्यस्मात् वस्तुनः, पिण्डीकरणं च ईश्वरे वा आत्मनि। सर्वेश्वरस्तु व्यक्तिविशेषो भवितुं

नार्हति, समष्टिरित्येव ग्रहणीयम् । आत्मेति वैराग्यवतो जीवात्मा इति नापद्यते, परन्तु सर्वगः सर्वान्तर्यामी सर्वस्यात्मरूपेणावस्थितः सर्वेश्वर एक लक्ष्यीकृतः। स तु समष्टिरूपेण सर्वेषां प्रत्यक्षः। एवं सति जीवेश्वरयो स्वरूपतः अभेदभावात् तयोः सेवाप्रेमरूपकर्मणोरभेदः। अयमेव विशेषः--जीवे जीवबुद्ध्या या सेवा समर्पिता सा दया, न प्रेम, यदात्मबुद्ध्या जीवः सेव्यते, तत् प्रेम। आत्मनो हिं प्रेमास्पदत्वं श्रुतिस्मृतिप्रत्यक्षप्रसिद्धत्वात्। तत् युक्तमेव यदवादीत् भगवान् चैतन्यः--प्रेम ईश्वरे, दया जीवे इति। द्वैतवादित्वात् तत्र भगवतः सिद्धान्तः जीवेश्वरयोर्भेदविज्ञापकः समीचीनः; अस्माकं तु अद्वैतपराणां जीवबुद्धिर्बन्धनाय इति। तदस्माकं प्रेम एव शरणं, न दया। जीवे प्रयुक्तः दयाशब्दोऽपि साहसिकजल्पित इति मन्यामहे। वयं न दयामहे, अपि तु सेवामहे; नानुकम्पानुभूतिरस्माकम्, अपि तु प्रेमानुभवः स्वानुभवः सर्वस्मिन्।

सैव सर्ववैषम्यसाम्यकरी भवव्याधिनीरुजकरी प्रपञ्चावश्यम्भाव्यत्रितापहरणकरी सर्ववस्तुस्वरूपप्रकाशकरी मायाध्वान्तविध्वंसकरी आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तस्वात्मरूपप्रकटनकरी प्रेमानुभूतिर्वैराग्यरूपा भवतु ते शर्मणे शर्मन्।

इत्यनुदिवसं प्रार्थयति त्वयि धृतचिरप्रेमबन्धः

विवेकानन्दः॥

(हिन्दी अनुवाद)

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

जिनकी शक्ति से हम सब लोग तथा समस्त जगत् कृतार्थ हैं, उन शिवस्वरूप, स्वतंत्र, ईश्वर श्रीरामकृष्ण की मैं सदैव चरण-वन्दना करता हूँ।

अलमोड़ा, ३ जुलाई, १८९७

आयुष्मन् शरच्चन्द्र,

शास्त्रों के वे रचनाकार जो कर्म की ओर रुचि नहीं रखते, कहते हैं कि सर्वशक्तिमान भावी प्रबल है; परन्तु दूसरे लोग जो कर्म करनेवाले हैं, समझते हैं कि मनुष्य की इच्छा-शक्ति श्रेष्ठतर है। जो मानवी इच्छा-शक्ति को दुःख हरनेवाला समझते हैं, और जो भाग्य का भरोसा करते हैं, इन दोनों पक्षों की लड़ाई का कारण अविवेक समझो और ज्ञान की उच्चतम अवस्था में पहुँचने का प्रयत्न करो।

यह कहा गया है कि विपत्ति सच्चे ज्ञान की कसौटी है, और यही बात 'तत्त्वमसि' (तू वह है) की सच्चाई के बारे में हजार गुना अधिक कही जा सकती है। यह वैराग्य की बीमारी का सच्चा निदान है। धन्य हैं वे, जिनमें यह लक्षण पाया जाता है। हालाँकि यह तुम्हें बुरा लगता है, फिर भी मैं यह कहावत दुहराता हूँ, 'कुछ देर प्रतीक्षा करो।' तुम खेते खेते थक गये हो, अब डाँड़ पर आराम करो। गति के आवेग से नाव उस पार पहुँच जायगी। यही गीता में कहा है--'तत्स्वयं

योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति' अर्थात् 'उस ज्ञान को शुद्धान्तःकरणवाला साधक समत्वबुद्धिरूप योग के द्वारा स्वयं अपनी आत्मा में यथासमय अनुभव करता है।' और उपनिषद् में कहा है--'न धनेन न प्रजया त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' अर्थात् 'न धन से, न सन्तान से, वरन् केवल त्याग से ही अमरत्व प्राप्त हो सकता है' (कैवल्य २)। यहाँ 'त्याग' शब्द से वैराग्य का संकेत किया गया है। यह दो प्रकार का हो सकता है--उद्देश्यपूर्ण और उद्देश्यहीन। यदि दूसरे प्रकार का हो, तो उसके लिए केवल वही यत्न करेगा जिसका दिमाग सड़ चुका हो; परन्तु यदि पहले से अभिप्राय हो, तो वैराग्य का अर्थ होगा कि मन को अन्य वस्तुओं से हटाकर भगवान् या आत्मा में लीन कर लेना। सबका स्वामी (परमात्मा) कोई व्यक्तिविशेष नहीं हो सकता, वह तो समष्टिरूप ही होगा। वैराग्यवान् मनुष्य आत्मा शब्द का अथ व्यक्तिगत 'मैं' न समझकर, उस सर्वव्यापी ईश्वर को समझता है, जो अन्तःकरण में अन्तर्नियामक होकर सबमें वास कर रहा है। वे समष्टि के रूप में सबको प्रतीत हो सकते हैं। इस प्रकार जब जीव और ईश्वर स्वरूपतः अभिन्न हैं, तब जीवों की सेवा और ईश्वर से प्रेम करने का अर्थ एक ही है। यहाँ एक विशेषता है। जब जीव को जीव समझकर सेवा की जाती है, तब वह दया है, प्रेम नहीं; परन्तु जब उसे आत्मा समझकर सेवा की जाती है, तब वह प्रेम कहलाता है। आत्मा ही

एकमात्र प्रेम का पात्र है, यह श्रुति, स्मृति और अपरोक्षानुभूति से जाना जा सकता है। भगवान् चैतन्यदेव ने इसलिए यह ठीक ही कहा था--'ईश्वर से प्रेम और जीवों पर दया।' वे द्वैतवादी थे, इसलिए जीव और ईश्वर में भेद करने का उनका निर्णय उनके अनुरूप ही था। परन्तु हम अद्वैतवादी हैं। हमारे लिए जीव को ईश्वर से पृथक् समझना ही बन्धन का कारण है। इसलिए हमारा मूल तत्त्व प्रेम होना चाहिए, न कि दया। मुझे तो जीवों के प्रति 'दया' शब्द का प्रयोग विवेकरहित और व्यर्थ जान पड़ता है। हमारा धर्म करुणा करना नहीं, सेवा करना है। दया की भावना हमारे योग्य नहीं, हममें प्रेम एवं समष्टि में स्वानुभव की भावना होनी चाहिए।

जिस वैराग्य का भाव प्रेम है, जो समस्त भिन्नता को एक कर देता है, जो संसाररूपी रोग को दूर कर देता है, जो इस नश्वर संसार के त्रय-तापों को मिटा देता है, जो सब चीजों के यथार्थ रूप को प्रकट करता है, जो माया के अन्धकार को विनष्ट करता है, और घास के तिनके से लेकर ब्रह्मा तक सब चीजों में आत्मा का स्वरूप दिखाता है, वह वैराग्य, हे शर्मन्, अपने कल्याण के लिए तुम्हें प्राप्त हो। मेरी यह निरन्तर प्रार्थना है।

तुम्हें सदैव प्यार करनेवाला,

विवेकानन्द

❁

श्री माँ सारदा देवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

(गतांक से आगे)

माँ अपनी अक्षम सन्तानों की मनोकामना कितने अचिन्त्य, अद्‌भुत उपायों से पूर्ण करतीं इस पर विचार करने से अचरज की कोई सीमा नहीं रहती। अन्तिम कष्ट के समय देश में (जयरामवाटी में) बहुत दिन भुगतने से माँ का शरीर टूट गया। शरत् महाराज एवं अन्य सब कलकत्ते से साधुओं को भेजकर बहुत यत्न करके माँ को कलकत्ता लिवा लाये। माँ उद्बोधन में थीं। अच्छी से अच्छी चिकित्सा, सेवा, औषध पथ्यादि की व्यवस्था करने पर भी माँ के स्वास्थ्य में कोई विशेष सुधार नहीं दिखता था। रोज शाम को थोड़ा थोड़ा बुखार हो आता था। अनेक दवाइयों और पथ्यादि से भी वह दूर न होते देख ऐसा सन्देह होता था कि शायद काला-ज़्वर हो। तब ज़्वर-चिकित्सा क्षेत्र के नामी अनुभवी डाक्टर पी. ड़ी. बोस का इलाज शुरू किया गया। रोगिणी को देखने आने पर जब डा. बोस को उनका विशेष परिचय मिला, तब उन्होंने अपनी विजिट का पैसा लेना अस्वीकार कर दिया और अत्यन्त मनोयोग एवं श्रद्धाभक्ति के साथ वे इलाज करने लगे। कभी कभी अवस्था में थोड़ा सुधार तो दिखता था, पर कोई स्थायी लाभ नहीं हो रहा था और शरीर अधिकाधिक टूटता ही लग रहा था। माँ की अस्वस्थता का समाचार पा दूर दूर से उनके भक्त शिष्य दौड़े चले आने लगे। माँ

के दर्शन कर सभी अत्यन्त विषण्ण और दुःखित हुए। इस समय विशेष सावधानी बरती जा रही थी। माँ को प्रणाम करना, उनका चरण-स्पर्श करना, यह सब मना था; यहाँ तक कि उनके दर्शन पाना भी कठिन था। सामान्य लोगों के लिये तो माँ के पास पहुँच पाना सम्भव था ही नहीं, विशेष परिचित लोग भी दर्शन और मात्र दो-एक बातें कर पा सकते थे। सेवक सेविकाएँ विशेष सावधानी से देखभाल कर रहे थे; भक्त लोग भी माँ के स्वास्थ्य-लाभ की ही कामना करते थे इसलिए कोई भी नियम का उल्लंघन कर उनकी पीड़ा को बढ़ाना नहीं चाहता था। दूर दूर से आनेवाले भक्तों में जो किसी विशेष कारण से माँ के दर्शन की अभिलाषा रखते थे, उन्हें शरत् महाराज से अनुमति लेनी पड़ती थी। शरत् महाराज भी सब कुछ पूछकर अवस्था के अनुसार ही व्यवस्था करते थे, फिर भी कभी कभी माँ की इच्छा से निषेध में शिथिलता करनी पड़ती थी।

माँ की अस्वस्थता की खबर पा उनका एक दीन पुत्र (शिष्य) दूर गाँव से आया। सबके साथ पहले से ही घनिष्ठ परिचय रहने से वह माँ के दर्शनादि करने लगा। कमरे में प्रविष्ट होने पर थोड़ी दूर पर खड़े हो माँ के दर्शन कर वह शीघ्र कमरे से बाहर निकल आता, कभी माँ के बुलाने पर पास जा दो-चार बातें कर भी आता, किन्तु जहाँ तक बनता वह डरते डरते शीघ्र बाहर निकल आता, जिससे माँ को अधिक बोलने से कष्ट न

हो तथा दूसरों की नजर में यह दृश्य न पड़े, नहीं तो यहाँ तक आकर दर्शन का सुयोग भी दुर्लभ हो जाय। अस्वस्थता की दशा में प्रणाम नहीं किया जाता, इसलिये वह प्रणाम भी नहीं करता, फिर चरण-स्पर्श तो बहुत दूर की बात थी। बस, हाथ जोड़े रहता। माँ के मुख और नेत्रों में पहले के समान ही प्रसन्नता झलकती रहती और वाणी में लगभग वही पूर्ववत् स्निग्धता थी। इसलिए ऐसा नहीं भान होता था कि वे इतनी जल्दी सन्तानों को छोड़कर चली जाएँगी। फिर मानव-मन भी कभी आशा-भरोसा नहीं छोड़ता, इसलिये सभी को विश्वास था कि माँ पहले के समान इस समय भी भली-चंगी हो जाएँगी तथा सन्तानों के आनन्द के दिन फिर से लौट आएँगे।

यद्यपि माँ के निकट जाने पर इस प्रकार की आशा से हृदय पूर्ण हो उठता, तथापि दूर जाते ही मन में दुःख व्याप्त हो जाता। चिकित्सा की विफलता की बात सोच, विशेषकर माँ की अपनी देह के प्रति उदासीनता, और सर्वोपरि माँ का अपनी भतीजी श्रीमती राधारानी के प्रति उपेक्षा का भाव देख सबके भीतर विषम आतंक छा जाता। जिस राधू को थोड़ी देर न देख माँ आकुल हो उठतीं, उसी को वे अब देखना नहीं चाहतीं; पास में आने पर दूर हट जाने के लिए कहतीं, यहाँ तक कि अपने पास खड़ी देख चली जाने के लिए कहतीं। राधू के आँसू भी उनके अन्दर सहानुभूति नहीं जगा पाते।

उन्होंने स्पष्ट कह दिया था, "मन उठा लिया है, अब और नहीं।" दूर गाँव से आया वह शिष्य भी था, जो दो-एक बात करके चला जाया करता था। वह अपने मन को किसी प्रकार समझाने की चेष्टा करता कि चलो, माँ के दर्शन तो हुए, उनसे एक-दो बातें तो हुईं, पर दिन-दिन प्राणों के भीतर एक प्रवल आकांक्षा और आग्रह उसको आकुल किये डाल रहा था। "हाय! हमारा भाग्य ही खोटा है। पता नहीं यह सोने का सपना कब टूट जाय! एक बार भी प्राण भरकर माँ से बातें नहीं हो पायीं, अच्छी तरह दर्शन भी नहीं कर पाया, चरण-स्पर्श भी नहीं कर सका! प्रत्यक्ष रूप से सेवा का कोई सुयोग नहीं मिला। वह आता जाता रहता, पर हृदय की तीव्र व्यथा को भीतर ही गोपन रखता। माँ को एक दिन भी, अस्पष्ट शब्दों में भी, अपनी आकांक्षा नहीं जतला सका, क्योंकि एक तो माँ की यह बीमारी और ऊपर से फिर तकलीफ देना! इस प्रकार कितने दुष्कर्मों का, पापों का बोझा उनको सौंपा है, इसकी क्या कोई गिनती है? हम लोगों के कारण ही तो आज उनको इतना कष्ट उठाना पड़ रहा है। यह सब सोचकर मन में लज्जा और अनुताप होता तथा श्रीठाकुरजी के सामने हाथ जोड़ प्रार्थना करता, "क्षमा करो, प्रभो, दास पर बहुत कृपा की है, अनेक साध मिटायी है, अब और कुछ न होने पर भी अफसोस नहीं; बस, माँ को अच्छा कर दो, जिससे हम लोग कम से

कम और कुछ समय तक अनाथ बनने से बचे रहें !" माँ की खाट के सामने ही ठाकुरजी का आसन था, वहाँ ठाकुरजी को प्रणाम कर, ठाकुर और माँ दोनों के सामने मन ही मन अपनी मनोवेदना व्यक्त कर वह चला जाता।

कुछ दिनों बाद एक दिन दोपहर में अकस्मात् किसी काम से माँ के कमरे की तरफ निकलने पर उस भक्त ने यों ही दरवाजे से भीतर झाँका होगा कि माँ ने उसे बुलाकर एकदम अपने पास ले लिया और सामने की सेविका को उसे अपने हाथ का पंखा देकर चले जाने के लिए कहा। इस आकस्मिक संयोग से सन्तान का हृदय हर्ष और विस्मय से भर उठा। सोचने लगा शायद कार्य समाप्त करके सेविका के चले जाने की बात हो रही हो और माँ उसको अब छुट्टी देने की सोच रही थीं। चिकित्सक का निर्देश था कि दोपहर में पथ्य लेने के बाद माँ एक घण्टे बैठकर विश्राम करें और फिर लेटकर सोएँ, इसलिए माँ आहार के बाद बिछौने पर पैर फैला-कर तकिये के सहारे बैठी थीं। सेविका के पंखा सौंपकर चले जाने के बाद भक्त खाट के पास खड़े हो माँ को धीरे धीरे पंखा झलने लगा। माँ बीच बीच में दो-एक बात बोल रही हैं। तन्द्रा-सी आ रही है, पर माँ सोएँगी नहीं, सन्तान के साथ बातें कर निद्रा को दूर हटा रही हैं। अनेक दिनों के बाद आज माँ–बेटे पास पास हैं; भोजन के बाद अन्य सब लोग विश्राम कर रहे हैं, सारा घर नीरव-निस्तब्ध है। शायद नीचे आफिस से एक-आध

बात सुनायी पड़ जाती है। भक्त भय के कारण स्वयं होकर कोई बात नहीं कर रहा है, किन्तु माँ आप होकर उसे अत्यन्त अपना बना मानो उसके समूचे जीवन को परितृप्त करते हुए धीरे धीरे घरेलू बातें कर रही हैं। भक्त डरते डरते--जिससे माँ की अस्वस्थता न बढ़े--सावधानीपूर्वक अलग ही खड़ा हुआ है। प्रणामादि करने से रोग स्थायी हो जाता है यह सुनने के कारण उसने इस बार आने के बाद एक भी दिन माँ के चरणों का स्पर्श करने का साहस नहीं किया। आज माँ के खूब पास खड़े रहने पर भी वह बहुत सावधान है, जिससे माँ की देह का स्पर्श न हो। माँ इधर उधर की बात करने के बाद अपनी बीमारी की बात कहने लगीं कि सचमुच इतना इलाज हो रहा है, फिर भी कोई लाभ नहीं हो रहा है। भक्त उन्हें शिशु के समान समझाते हुए कह रहा है, "न, ठाकुर की कृपा से अच्छा हो जायगा, कोई चिन्ता की बात नहीं है", इत्यादि। माँ के मुख और नेत्रों में अस्वस्थता के लिए या शरीर के लिए बिन्दुमात्र भी दुःख-चिन्ता अथवा उद्वेग का चिह्न नहीं है। देह की तरफ माँ का जरा भी ध्यान नहीं है यह देख सन्तान के मन में दुःख और सन्ताप तो है, पर उसे दबाकर माँ की बीमारी के दूर होने और उनके स्वस्थ हो जाने की ओर ही वह बात को घुमाकर ले जाने की चेष्टा कर रहा है। इतने में माँ ने उसके मुख की ओर सकरुण नेत्रों से ताककर कहा, "देखो, गड्ढा पड़ जाता है",

और यह कहकर उन्होंने पैर को अँगुली से दबाकर दिखाया, वहाँ एक गढ्ढा पड़ गया। भक्त पैर में पड़े उस गढ्ढे की ओर ध्यान से देखने लगा। तब माँ बोली, "देखो, अपनी अँगुली से दबाकर देखो।"

देह-स्पर्श करने में सन्तान को भय लग रहा है, इसलिए पैर छूने की न तो तनिक भी इच्छा है और न साहस। पर माँ कह रही हैं इसलिए किसी प्रकार उसने अँगुली को पैर से छुला भर दिया। माँ उससे सन्तुष्ट न हो मुसकराकर कहने लगीं, "जोर से दबाकर देखो न।" अब तो बिना ठीक से देखे कोई उपाय नहीं था, पैर पर अच्छी तरह हाथ लगाना ही पड़ा। उसने अँगुली से दबाकर देखा, गढ्ढा पड़ गया। माँ उस अँगुली के दाग की ओर--पैर में पड़े उस गढ्ढे की ओर ऐसे देख रही हैं मानो वह दूसरे की देह हो। अपनी स्वयं की देह का, अथवा देह की अस्वस्थता का मानो उन्हें कोई भी भान नहीं। अँगुली द्वारा दबाये हुए स्थान में जो गढ्ढा बना, उसे मिलकर बराबर होने में समय लगा। भक्त देखकर ही समझ गया कि देह में रक्त की कमी से शोथ हो गया है। उसका चेहरा फक् हो गया, हृदय उससे भी अधिक गहरे दुःख में डूब गया। वह चुपचाप खड़ा है। माँ उसके मुख की ओर ताक रही हैं, लगता है सन्तान के हृदय को पढ़ लिया है, बीमारी की बात छोड़ उन्होंने अन्य प्रसंग छेड़ दिया। किन्तु जिस काले मेघ ने सन्तान के हृदयाकाश को इस समय आच्छादित

किया था, कुछ दिनो में बढ़कर उसने सब कुछ अन्धकारमय कर दिया था। घड़ी देखी गयी, एक घण्टा बीत गया है। माँ अब लेटकर विश्राम कर रही हैं, भक्त पास में रहकर धीरे धीरे हवा करके मक्खियाँ भगा रहा है। कुछ क्षण विश्राम करके सामान्य निद्रा लेने के बाद माँ उठ गयीं। मुख धोएँगी इसलिए सन्तान ने पात्र रखकर जल ढाला। मुख में आधा चबाया हुआ पान था, पहले उन्होंने उसे पात्र में डाला, फिर कुल्ला किया। जब बरामदे में जाकर निर्बोध सन्तान ने पात्र का जल फेंक दिया, तब उसे हठात् ख्याल आया कि आज उसने दुर्लभ वस्तु फेंक दी। यह वस्तु तो अब माथा रगड़ने पर भी नहीं मिलेगी हाय! प्रसादी पान अपने ही हाथ से फेंक दिया! माँ ने बाद में पीने के लिए पानी माँगा, भक्त माँ को उसी छोटे लोटे में भर कर जल पिला रहा है, किन्तु माँ घूँट नहीं ले पा रही हैं। तब भक्त माँ की पीठ पर बायाँ हाथ रख दायें हाथ से उनकी छाती को सहलाने लगा, तब कहीं जल गले के नीचे उतरा। माँ सन्तान के मुख की ओर ताक रही हैं, सन्तान ने इसी प्रकार धीरे धीरे घूँट घूँट करके पानी पिलाया। माँ की सेवा करने की उसकी साध आज थोड़ी पूर्ण तो हुई इसमें सन्देह नहीं, किन्तु वह समझ गया कि हम लोगों का भाग्य अब फूटने ही वाला है, और देरी नही है।

अपराह्न का समय है। माँ उठकर बैठी हुई हैं।

लोग इधर उधर चल-फिर रहे हैं। एक जन किसी काम से उधर आया। माँ ने आँचल से चाबी निकाल सन्तान को दी और उससे पेटी खोलकर पैसा निकालने के लिए कहा। माँ जमाने से उस लोहे की पेटी को व्यवहार में ला रही थीं। कहीं भी यात्रा में जाने पर उसे सदा साथ रखतीं—ठाकुर के चित्रादि उसमें रहते। भक्त ने श्रद्धापूर्वक उस पेटी का स्पर्श किया और जब उसने उसे खोलकर भीतर सहेज कर रखी हुई चीजों को देखा, तो उसके मन में बारबार यह विचार उठने लगा —"माँ महामाया, तुम्हारी यह अद्भुत ससार-लीला है! कृपा करके अपनी जिस लीला को तुमने अपनी सन्तानों को दिखलाया है, उसे क्या शीघ्र समेट लोगी? इसकी यदि पहले कल्पना हो जाती, तो और अच्छी तरह देख लेता, माँ।"

शाम के चार से ऊपर बजे होंगे, दूसरे लोग सेवा के लिए आ गये हैं इसलिए सन्तान को विदा लेनी होगी। मुख पर हर्ष है, भीतर विषाद है, चिन्ता है। उद्बोधन का दरवाजा पार कर रास्ते पर आने पर सन्तान के मन में विचार उठा—देखूँ प्रसादी पान कुछ मिलता है या नहीं! खोजने पर अल्प थोड़ा सा मिला, उसी से तृप्ति और आनन्द हुआ। अधिक खोजकर ढूँढ़ने का साहस भी नहीं हुआ कि कहीं बाद में किसी को भनक न लग जाय। और तभी उसने देखा, पास में सुधीरा देवी अपनी साड़ी का आँचल गले में डाल

अत्यन्त भक्तिभाव से माँ के घर की सीढ़ी पर मस्तक टेककर प्रणाम कर रहीं हैं, ऊपर माँ के दर्शन के लिए जाएँगी। सन्तान को अन्त के लिए माँ ने बहुत सम्बल दिया, किन्तु 'पाकर के कंगाल रत्न क्या उसे कभी रख सकता है ? "

माँ को नीरोग एवं स्वस्थ करने के लिए पूजनीय शरत् महाराज एवं माँ के अन्य भक्तगण बहुत चेष्टा कर रहे हैं। एलोपैथी, होमियोपैथी, कविराजी सभी प्रकार की चिकित्सा हो रही है। दैवी चिकित्सा, ग्रह-शान्ति, स्वस्त्ययन पूजा-जप-होमादि अनेक दिन तक चले थे। थोड़ा सा अच्छा लगने पर भी किसी से भी स्थायी लाभ नहीं हुआ। ग्रह-शान्ति के समय एक भक्त प्रतिदिन बेलुड़ मठ से फूल, बिल्व पत्र इत्यादि लेकर आता था। वह विशेषकर होम के लिए अच्छे तीन पत्ती वाले निर्दोष बिल्व पत्र एवं इसके साथ माँ के लिए आमरुल की (एक प्रकार की खट्टी) भाजी तथा मठ की बाड़ी से ताजा नीबू लाता। एक दिन जब सुबह सुबह वह यह सब लेकर उद्बोधन पहुँचा और पूजा की व्यवस्था करने वाले पूजनीय कपिल महाराज को समझाने पूजागृह में गया, तब देखा कि वे बहुत उद्विग्न हैं। जिस घट में इतने दिनों से स्वस्त्ययन की पूजा चल रही थी, आज उसके नीचे से धीरे धीरे पानी टपकते देखकर सभी दुखित और चिन्तित हैं। घट को बदलकर दूसरा घट स्थापित किया गया है। थोड़ी देर बाद ही

स्वस्त्ययन-कर्ता ब्राह्मण ने देखा कि बदले हुए घड़े के नीचे भी जल जमा है। इस घट के नीचे भी छिद्र होने से जल बाहर गिरते देख सभी अत्यन्त आतंकित हो उठे। जल्दी से घट हटा दिया गया।

कपिल महाराज एक को साथ ले स्वयं दुकान जा अच्छी तरह देखकर एक नया घट खरीद लाये। नये घट को साफ धोकर जल से भरकर रखा गया। पूजा आरम्भ करने में देर हो गयी थी। आज माँ के जन्म-नक्षत्र अधिपति देवता के निमित्त विशेष पूजा-होम है, उसमें यह आकस्मिक विघ्न पड़ते देखकर सभी के मन में एक विषम आशंका और चिन्ता का संचार हो गया। माँ की तबीयत उस समय खराब थी--उन्होंने खाट पकड़ ली थी ऐसा भी कह सकते हैं। एक साधु ने जाकर जब योगीन माँ से कहा, "योगीन माँ, आपने सुना! इतने दिन तक जिस घट में स्वस्त्ययन-पूजा हो रही थी, आज उसमें से पानी बह रहा था, बदलकर दूसरा घट बैठाला गया, तो उसमें भी छेद निकला। अब बाजार से नया घट लाकर पूजा हो रही है। समझ रही हैं कैसी विकट बात है!" योगीन माँ ने गहरा निःश्वास छोड़ ऊपर दृष्टि करते हुए कातर वाणी में जोरों से कहा, "समझने में क्या और कुछ बाकी है, बेटा? घट में तो नहीं, हमारे कपाल में ही छेद हो गया है।" सभी नीरव और निस्तब्ध हैं—सबका हृदय बुझा हुआ है, आखिरी आशा भी मिटती जा रही है।

एक भक्त बेलुड़ मठ से प्रायः ही उद्बोधन जाकर दूर से ही माँ के दर्शन करता। उनके उस जीर्ण कलेवर में भी मुख की प्रशान्ति और सकरुण स्नेहदृष्टि के दर्शन कर वह क्षण भर सब भूल तो जाता, पर अन्तर में विषम व्यथा लेकर लौटता। माँ का शरीर टूट गया है, चलने की शक्ति अब नहीं रही, कमरे से श्रीठाकुरजी का आसन अन्यत्र हटा दिया गया है, माँ का बिछौना नीचे फर्श पर लगा दिया गया है। हृदय में हताशा और आशंका है कि कब क्या हो जाय। एक दिन सन्ध्या के तनिक पहले उसी सन्तान ने जाकर देखा कि माँ को पकड़कर बिछौने पर बिठाया गया है। वे कन्याओं द्वारा घिरी हुई हैं। सन्ध्या होने पर माँ ने अत्यन्त कष्ट से दूसरे की सहायता से दोनों हाथ थोड़ा उठाकर सीधा करके ठाकुर-प्रणाम किया। पहले के उन सुन्दर सुललित वराभय देनेवाले करयुगल को शीर्ण, म्लान और अस्थिप्राय देख सन्तान के प्राण सूख गये, अच्छी तरह देखने का साहस न हुआ। हाय ! जिन हाथों से माँ ने सन्तान को कितना आशीर्वाद दिया है, स्नेह-ममता से मन-प्राण भरपूर करके कितना प्रसाद खाने दिया है और खिलाया है, उन्हीं हाथों की आज यह अवस्था है। माँ का शरीर आज इतना जीर्ण और दुर्बल हो गया है कि हाथ का पुराना कंगन 'अनन्त वलय' अत्यन्त ढीला होकर गिरने लायक होने से धागे से बाँधकर रखा गया है। एक दिन माँ की अत्यन्त स्नेहपात्री

स्वर्गीय बलरामबाबू की कन्या उनके दर्शन करने के लिए आयीं और उनके शरीर की ऐसी अवस्था देख अतिशय दु:खित हो छोटी बालिका के हाथ के लायक सोने के कंगन तैयार करवाकर दे गयीं। वही कंगन अन्त तक माँ के हाथ में था और उस कंगन के साथ ही पवित्र देह का शेषकृत्य सम्पन्न हुआ था।

सावन के महीने में घोर वर्षा के समय जन्माष्टमी से कुछ दिन पूर्व श्रीठाकुर ने इस मर्त्यलोक से महाप्रयाण किया था। वही समय निकट आने पर माँ भी अपनी दीन सन्तानों को दु:ख-सागर के बीच छोड़ ठाकुर के समान ही गहरी रात्रि में नर-वपु का परित्याग कर नित्य-स्वरूप में अवस्थित हो गयीं। जैसे ही बेलुड़ मठ खबर पहुँची, वैसे ही श्रीठाकुरजी की सेवा में जो थे उन्हें और वृद्ध साधुओं को छोड़ सभी माँ के अन्तिम दर्शन के लिए दौड़े आये।

पूजनीय महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द) बेलुड़ मठ में गंगा की तरफ वाले ऊपर के बरामदे में गम्भीर भाव में डूबे हुए अकेले चहलकदमी कर रहे हैं। कभी कमरे के भीतर जाते हैं, कभी बाहर बरामदे पर आते हैं—ठाकुरघर, गंगा, दक्षिणेश्वर, काशीपुर, उद्बोधन की तरफ़ देख रहे हैं। उनके मन में क्या है वे ही जानें। भोर में अभी भी अन्धकार है—थोड़ा सा आलोक फैल रहा है, ऐसे समय में एक पुराने भक्त भुवनबाबू महापुरुष महाराज के सम्मुख जाकर प्रणाम

करके बोले, "महाराज, माँ उद्बोधन को आलोकित कर रही हैं! मुख पर कैसी अलौकिक ज्योति फूट रही है! देखने से ऐसा नहीं लगता कि हम लोगों को छोड़कर चली गयी हैं। मुख देखने से सब शोक दूर हो जाता है!"

जल्दी से मठ में पूजा और भोग का आयोजन हुआ। पूजनीय खोका महाराज (स्वामी सुबोधानन्द) दौड़कर सब देख रहे हैं, सारा प्रबन्ध कर रहे हैं। माँ की पावन देह मठ में आएगी, स्नान-पूजा-आरती होगी। उसके पूर्व ही ठाकुरजी की पूजा और भोग सम्पन्न करने की व्यवस्था हुई। इतने दिनों तक ठाकुरजी के शयनगृह में माँ की जो छवि थी, महापुरुष महाराज की अनुमति से पुजारी लक्ष्मण महाराज ने आज उसे लाकर ठाकुरघर में ठाकुरजी के सिंहासन के बायीं ओर अलग आसन पर रखकर पुष्पादि द्वारा सुन्दर रूप से सजा दिया। आज से तसवीर में माँ की नित्यपूजा बेलुड़ मठ में प्रारम्भ हुई।

दोपहर में पत्र-पुष्पादि से सुसज्जित एक सुन्दर पलंग पर माँ की माल्यभूषित चन्दनचर्चित पूत देह को रखकर नौका द्वारा गंगा पार का बेलुड़ मठ में लाया गया। माँ की कन्याओं ने अश्रुपात करते करते माँ को गंगा में स्नान कराया और नववस्त्रादि से सजाया। तत्पश्चात् मठ के ठाकुरमन्दिर की सीढ़ियों के पास रख-कर पूजा आरती हुई। बहुत से पदचिन्ह लिये गये। उसके बाद गंगा तट पर (वर्तमान माँ का मन्दिर जहाँ

पर है) चन्दन की लकड़ियों से चिता सजायी गयी। स्वामी सारदानन्दजी ने प्रदक्षिणा करके चिता में अग्नि प्रज्वलित की। स्वामी शिवानन्दजी, स्वामी सुबोधानन्दजी, स्वामी निर्मलानन्दजी, मास्टर महाशय (महेन्द्र नाथ गुप्त) और बहुत से पुराने भक्त चारों तरफ खड़े हैं। अनेक भक्त स्त्री-पुरुष इकठ्ठे हो गये हैं--वे भी चारों तरफ घेरकर खड़े हैं और शोक से भरे हुए हृदय से इस अद्‌भुत यज्ञ-होम को देख रहे हैं। स्वामी निर्मलानन्दजी ने एक वैदिक मन्त्र का उच्चारण किया। अग्नि प्रज्वलित हो उठी। सबने धूप, अगरु, कपूर आदि से आहुति दी। थोड़े समय में ही सब शेष हो गया। उसके बाद चिता शान्त करने के लिए सबने घट में गंगाजल लाकर देना आरम्भ किया। इतने में अचानक वृष्टि आरम्भ हो गयी। पूजनीय सारदानन्दजी ने घट से जल लाना रुकवा दिया। थोड़ी ही देर में तीव्र वृष्टि ने चिता को शान्त कर दिया और दोपहर की तेज धूप से तप्त माँ की समस्त सन्तानों को भी शीतल कर दिया। कुछ सन्तानों ने मिलकर एक घट में देहावशष अस्थियों को इकठ्ठा किया। आश्चर्य की बात थी कि प्राय: सब कुछ राख हो गया था, बिल्कुल थोड़ी सी ही अस्थियाँ मिली। वह सब सावधानीपूर्वक ताम्रघट में इकठ्ठा किया गया और भक्तिभाव से ले जाकर बेलुड़मठ के ठाकुरघर में माँ की छवि के पास स्थापित कर दिया गया। ठाकुरजी को विराट् भोग देकर पर्याप्त पूड़ी, तरकारी, रसगुल्ला

का प्रसाद सबको दिया गया। उस दिन शाम को उस यज्ञस्थल पर एक सन्तान ने धूप जला दिया। दूसरे दिन स्वामी सुबोधानन्दजी ने एक ब्रह्मचारी पर नियमित रूप से वहाँ धूप-दीप जलाने का भार सौंप दिया।

(क्रमशः)

पति कहो, पुत्र कहो, शरीर कहो—सब माया है। ये सब माया के बन्धन हैं। इन्हें काटे बिना पार होना सम्भव नहीं है। आखिरी माया है देह की—देहात्मबुद्धि। अन्त में इसे भी काटना होगा। देह भला क्या है, मुट्ठी भर राख ही तो! उसका फिर क्या गर्व करना! कितनी भी बड़ी देह हो, जलाने के बाद डेढ़ सेर राख ही तो बचती है। फिर भी लोग उसके प्रति कितने आसक्त हैं।

— श्रीसारदादेवी।

तुरीयानन्दजी के सान्निध्य में

'स्वामी तुरीयानन्दजी भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी शिष्यों में अन्यतम थे। उनके कथोपकथन बँगला मासिक 'उद्बोधन' में यत्र-तत्र प्रकाशित हुए थे। उन्हें संग्रहित कर हिन्दी में अनूदित करने का कार्य रामकृष्ण मठ, नागपुर के ब्रह्मचारी श्रीधरचैतन्य ने किया है। –स.)

स्थान–मोहनलाल शाह का मकान, चिल्कापेटा अल्मोड़ा

१ जुलाई, १९१५

स्वामी तुरीयानन्द– स्वामीजी (विवेकानन्दजी) जब 'मैं' कहते तो उनका आशय होता वही सर्वव्यापक विराट् 'मैं' जिसमें सब का समावेश है। परन्तु हम लोग जो 'मैं' कहते है, उसमें देह-मन-इन्द्रिय आदि उपाधि से युक्त 'मैं' का ही भाव निहित होता है। इसीलिए हमें कहना चाहिए–'दास मैं' या 'भक्त मैं'। स्वामीजी 'मैं' कहते हुए उपाधि का ग्रहण नहीं करते थे। वे परमात्मा के साथ एक होकर 'मैं' कहा करते। 'मैं' कहते हुए वे मन-बुद्धि से परे चले जाते। यही उनका प्रधान भाव था। वे प्रधानतः इसी भाव में रहा करते। हम लोगों में यह भाव नहीं आता। हम ईश्वर से अलग कुछ और बने बैठे हैं। इसीलिए हमें ईश्वर को 'तुम' – 'तुम्हारा' आदि कहना पड़ता है।

प्रश्न– जो द्वैत भाव की साधना करते हैं, क्या उन्हें अपने में यह 'विराट् मैं' का भाव लाने के लिए अद्वैतपरक ग्रंथ आदि पढ़ना उचित है?

स्वामी तुरीयानन्द— ठाकुर कहा करते थे, 'अद्वैतज्ञान आँचल में बाँधकर जो इच्छा हो करो।' जो भक्त 'तुम' 'तुम्हारा' लिये रहता है,--अर्थात् जो कहता है, 'हे प्रभो, तुम्हीं सब कुछ हो, सब तुम्हारा ही है',—उसके भाव और अद्वैत भाव में भला अन्तर ही क्या है ! परन्तु जो भक्त 'मैं' 'मेरा' लिय रहता है, स्वयं को ईश्वर से अलग मानता है, उसका भाव महान् अनर्थकारी द्वैतभाव है। वह भंयकर माया में पड़ा हुआ है, अत्यन्त मोहग्रस्त हुआ है।

"ठाकुर सदा जप करते—'नाहं नाहं, तुहूँ तुहूँ', 'दासोऽहं दासोऽहं'। भक्त के लिए 'मैं'-'मेरा' भाव बिलकुल त्याज्य है। रामप्रसाद जगज्जननी से कितना हठ करते, उन पर कितना मान करते! भगवान् के प्रति इस तरह का एक घनीभूत भाव होना चाहिए—जैसे पानी जमकर बर्फ बन जाता है। तभी तो भगवान् के विभिन्न रूपों के दर्शन होंगे। गोपाल की माँ[1] के साथ साथ रहकर गोपाल लकड़ियाँ बीनता ! रामलला ठाकुर के साथ साथ घूमता फिरता ! ,....

"भाव ही तो सब कुछ है। साकार कहो या निराकार—भाव ही यथार्थ वस्तु है।

---

१. श्रीरामकृष्ण-भक्तपरिवार की सुप्रसिद्ध महिला-भक्त अघोरमणि देवी, जिन्हें वात्सल्य भाव से बालगोपाल की उपासना करते हुए सिद्धि प्राप्त हुई थी।

" 'नलिनी लो, ए तो नहे पिरिति विधान।
गगने तपन बंधु 'हेसे तारे तोषो शुधु,
मधुकरे करो मधुदान।।'[२]

"इधर तो तुम भगवान् को अपना सर्वस्व कहते हो, फिर भला स्त्री-सम्भोग आदि कैसे करते हो ! "

प्रश्न—राग-द्वेष आदि कैसे दूर हों ?

स्वामी तुरीयानन्द—राग अर्थात् आसक्ति और द्वेष अर्थात् विरक्ति-दोनों को मत आने दो। दूसरे व्यक्ति का निग्रह तो तुम कर नहीं सकते, अतएव स्वयं का ही निग्रह—आत्मनिग्रह—करो !

३ जुलाई, १९१५

स्वामी तुरीयानन्द-आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन इन चार बातों में मनुष्य पशु के ही समान है। ज्ञान ही में मनुष्य का विशेषत्व है। ज्ञान ही के कारण मनुष्य भले और बुरे का विचार कर सकता है। Life (जीवन) जितना low (अवनत) होगा, उतना ही sense (इन्द्रियों) में pleasure (आनन्द) मिलेगा; और जितना उन्नत होगा, उतना ही philosophy (दर्शन) या ज्ञान में सूक्ष्म आनन्द मिलेगा। निम्न स्तर के लोग इस प्रकार के सूक्ष्म आनन्द को नहीं समझ पाते। देखो

---

२. 'अरी नलिनी (कमलपुष्प) ! तेरी यह प्रीत की रीत तो ठीक नहीं। अपने पति सूर्य को गगन में प्रकट होते देख तू केवल थोड़ा मुसकराकर उसे सन्तुष्ट कर देती है, पर अपना मधु तो तू भौंरे को पिलाती है !'

न, वे कैसे शराब पीने, शिकार खेलने आदि ही में मग्न रहते हैं। यह तो बिलकुल पशु ही के समान जीवन हुआ। पशु भी तो इसी तरह जीते हैं। मनुष्य-जन्म पाकर भी यदि अपनी वृत्तियों को उन्नत न बना सके, तो क्या लाभ हुआ ? जिनका मन उच्च भूमि पर आरूढ़ रहता है, उनका मन इन सब भोग्य विषयों में नहीं उतरता। उनके लिए यह होना impossible (असम्भव) है। भला मिश्री का शरबत पीने के बाद फिर सस्ते गुड़ का पना अच्छा लगता है ?

"तुम विलायत जाओगे ? वहाँ जाकर क्या होगा ? वृत्ति को बहिर्मुख करके क्या लाभ ? खूब जप-ध्यान करते हुए भगवान् में मग्न हो जाओ। तद्‌गतान्तरात्मा बन जाओ ! तद्‌गतान्तरात्मा बन जाओ ! केवल ठाकुर ही को लेकर यदि पाँच वर्ष रह सको, तो बड़ा अच्छा हो। फिर क्या विलायत और क्या यह स्थान--सब एक-सा मालूम होगा।"

तीसरे प्रहर का समय है। कोई पुस्तक पढ़ी जा रही है। महाराज कहने लगे--" I do not care a fig for history or other things. (मैं इतिहास या अन्य किसी भी विषय की तनिक भी परवाह नहीं करता।) 'भगवान् ही सब कुछ हैं।' --कितनी सुन्दर बात है यह ! . . . सच्चिदानन्द-सागर की सतह पर अहंरूपी लाठी पड़ी है, इसीलिए दो भाग दिखायी दे रहे हैं। वासना के द्वारा अहं उत्पन्न होता है। वासना या कामना

हो ने तो मनुष्य को ईश्वर से अलग कर रखा है । एक न एक दिन मनुष्य को 'निर्वासित' बनना ही पड़ेगा । समस्त वासनाओं का समूल उच्छेदन कर प्रभु को पुकारना होगा । उन्हें पुकारते हुए यदि शरीर छूट भी जाये तो क्या !

"कोई चाहे जितना ही बड़ा व्यक्ति क्यों न हो, कितने ही बड़े कार्य क्यों न करे, पर किसी न किसी दिन उसे वासनाशून्य बनना ही पड़ेगा । वासनाशून्य बन जाने के बाद ईश्वर की इच्छा से फिर कर्म किया जा सकता है । यह भी अवश्य सच है कि जो लोग महापुरुषों के द्वारा प्रेरणा पाकर उनके आदेशानुसार कर्म कर रहे हैं, वे ठीक ही कर रहे हैं । जिन्हें तुमने अपना सब कुछ सौंप दिया है, उनका तो लक्ष्य ही है तुम्हारा कल्याण-साधन करना । उनके आदेशानुसार जो काम करोगे, उससे पाश बढ़ेगा नहीं बल्कि छूटता जायगा । ऐसे कर्म से बन्धन नहीं होता ।

"प्रभु से सदा प्रार्थना करना--'हे प्रभो, मैं तुम्हें कभी न भूलूँ । मुझे तो ऐसा काम मत दो, जिससे मैं तुम्हें भूल जाऊँ । मुझे तुम जहाँ चाहो रखो, पर मेरा मन सदा तुम्हारे ही चरणों में रहे ।' परन्तु ऐसा कभी न कहना कि प्रभो, मुझे यह दो, वह न दो । यह सकाम प्रार्थना है । मुझे यह करने की इच्छा होती है, वह करने की इच्छा नहीं होती'--ऐसा कहने पर तो उसमें 'मैं' आ गया ।

"कोई कोई लोग काम करने से घबड़ाते हैं; कहते हैं, हमें काम न करना पड़े। पर ऐसे में मन की गाँठ रह ही जायगी, भीतर मतलब रह हीं जायगा। ईश्वर के निकट भक्ति के लिए प्रार्थना करना और वे जब जो करायें, उसके लिए तत्पर रहना। कहना--प्रभो, सब परिस्थितियों में मन तुम्हारी ही ओर रहे और सदैव तुम्हारे भक्तों ही का संग हो, दूसरे किसी का संग न हो।"

४ जुलाई, १९१५

स्वामी तुरीयानन्द--यह पक्का जाने रहना चाहिए कि ईश्वर की हीं इच्छा से सब कुछ हो रहा है और उन्हीं की इच्छा से सब नष्ट भी हो रहा है। जग में कितने बुद्धिमान् लोग आये, पर अन्त में उनका परिणाम क्या हुआ ? सब ईश्वर की ही इच्छा से आता है और चला भी जाता है। यह जो अपना संघ है, क्या यह सदा समान ही रहेगा ? इसकी भी अवनति होगी--प्रभु को फिर आना होगा। ....

"जो ब्राह्मण है, वह तो spiritual beggar (आध्यात्मिक भिखारी) है। उसे तो अपने लिए दो दिन की भी व्यबस्था नहीं कर रखनी चाहिए। उसे केवल भगवान् को ही लेकर रहना चाहिए।

"इन्द्रियपरायण व्यक्तियों को ठाकुर तुच्छ मानते थे। वे कहते, उनमें कोई सार पदार्थ नहीं। स्त्रियों के समीप वे लोग इतने दीन-हीन बन जाते हैं कि हाथ

जोड़ने लगते हैं। और भी कितनी ही बातें सुनी हैं। जाने दो वह सब।

"जिनमें reason (विचारबुद्धि) नहीं है, वे शीघ्र ही एक ओर biased (पक्षपाती) हो जाते हैं। एक ही बाजू सुनकर वे उस बाजू के हो जाते हैं। समझने की शक्ति से पूर्ण मस्तिष्क और प्रेमपूर्ण हृदय--दोनों स्वामीजी में समान थे। सब दोष जानते हुए भी वे लोगों को क्षमा करते।..."

प्रश्न– क्या यह सम्भव नहीं कि मन अपने आप जागरूक और सतर्क रहे?

स्वामीजी– यह अपने आप कैसे होगा? पहले कुछ साधना करो। पहले स्वयं मनोयोगपूर्वक सावधान रहने का प्रयत्न करो। बाद में तुम्हारा मन आप ही आप monitor (नियामक) बन जायगा। लोग यह एकदम शुरू में ही चाहते हैं।

"तुम्हारे भीतर जो शुद्ध अंश है, वह वे हैं और जो अशुद्ध अंश है, वह तुम। मैं कहते समय तुम्हारा तात्पर्य इस अशुद्ध अंश से ही होता है। तुम जितना अधिक उनका चिन्तन करोगे, तुम्हारे भीतर उनका भाव उतना ही अधिक बढ़ उठेगा और तुम्हारा अशुद्ध भाव दूर भाग जायगा।

"कोई कोई बड़े चुप्पे स्वभाव के होते हैं। अपने चारों ओर बड़ी ऊँची दीवारें खड़ी कर रखते हैं, भीतर किसी को देखने नहीं देते, भीतर का भाव सदा छिपाये

रखने की कोशिश करते हैं। पर यह बहुत बुरा है। सरल हुए बिना भगवान् नहीं मिल सकते।"

७ जुलाई १९१५

स्वामी तुरीयानन्द— तुम जितने अहंकार-रहित होते हुए प्रभु के हाथ कठपुतली की तरह बन जाओगे, उतनी ही शान्ति पाओगे। 'वे कर्ता हैं, मैं अकर्ता' इस भाव का जितना अधिक आत्मसात् कर सकोगे, उतने ही प्राण शीतल होंगे।

९ जुलाई १९१५

स्वामी तुरीयानन्द— हम भी पहले-पहल निर्वाण को ही सर्वश्रेष्ठ समझ बैठे थे। बाद में इसके लिए ठाकुर से कितनी डाँट-फटकार खानी पड़ी। वे कहते, 'तुम लोग हीन बुद्धि के हो।' सुनकर हम तो आश्चर्यचकित हो जाते कि ये निर्वाणलाभ की इच्छा को भी हीनबुद्धि कहते हैं। परन्तु बाद में इसी के कारण उन पर खूब श्रद्धा और विश्वास हुआ।

१८ जुलाई, १९१५

स्वामी विवेकानन्दजी के 'Lectures on Vedanta'[३] में से कुछ पढ़ा गया ; स्वामी तुरीयानन्दजी कहने लगे—

"स्वामीजी की ये सारी बातें कैसे हवा में समा गयीं। यह जो तुम लोग इतना सब पढ़-लिखकर, सब कुछ छोड़-छाड़कर यहाँ आये, भला तुम क्या कर रहे हो? दिन पर दिन बीतते जा रहे हैं। तुम लोग किसी तरह

३. स्वामी विवेकानन्दजी के वेदान्त सम्बन्धी व्याख्यानों का संग्रह।

दिन बिता दे रहे हो। ठाकुर जैसा कहते, 'माँ, एक और दिन ढल गया, अभी तक तेरे दर्शन नहीं मिले' वैसा कौन कहता है! वैसी इच्छा ही कहाँ है? सब कैसे damp (सर्द), spiritless (निस्तेज) निरुद्यम बने बैठे हो। क्या यह सब पढ़कर तुम्हारा खून गरम नहीं हो उठता? तुम्हारा खून मानो मछली के खून-जैसा ठण्डा है। 'जीवन्मृतः को हि? निरुद्यमो यः।'[४] जीवन के सत्ताईस साल कट गये। स्वामी जी ने कहा था, 'मैंने उनतीस साल की उम्र के अन्दर सब कुछ निपटा लिया है।'

"वैसे तुम्हारा भी कोई दोष नहीं। तुम हमें जैसा देख रहे हो, वैसा ही तो करोगे। भक्तों के पास से पैसा आ रहा है और उससे किसी तरह हमारे दिन बीत रहे हैं! क्या हम अब पहले की तरह परिश्रम कर रहे हैं? हम कहते हैं कि अब हम बूढ़े हो गये हैं, हमें diabetes (बहुमूत्र) हो गया है, आदि। Nonsense (बेकार बात है)! यह सब excuse (बहाना) है। स्वामीजी आखिरी दिन तक मेहनत कर गये हैं। हमने देखा है—अन्तिम बीमारी के समय छाती पर तकिया दबाये हाँफ रहे हैं, पर इधर गरज रहे हैं, कह रहे हैं, 'उठो जागो, क्या कर रहे हो?' पर हम लोग तो excuse (बहाना) दिखा रहे हैं—diabetes (बहुमूत्र) आदि का। शरीर तो जाने ही वाला है, फिर परिश्रम

४. 'कौन जीवित रहते हुए भी मृत है?—जो उद्यमहीन है वह है।'

करते हुए ही क्यों न जाय ! Rousing the Divinity in yourself and in others (स्वयं के तथा दूसरों के भीतर सुप्त दिव्यत्व को जगाना)---यही तो सार बात है।

"यदि तुम यह ठाक ठीक जान चुके हो, तो काम में लग जाओ। निकल पड़ो। अन्य सब बातें इस समय स्थगित रहें। Now or never (इसी समय न हो तो फिर कभी नहीं होगा) ! उत्तरकाशी जा गंगाजी के किनारे पड़े रहकर जगज्जननी को यही कहते हुए पुकारो कि माँ, मैं केवल तुम्हीं को चाहता हूँ, और कुछ भी नहीं चाहता। इस प्रकार का जीवन-यापन करने के लिए इसी समय मन को तैयार कर लो। काम-काज आदि सब बाद में देखा जायेगा।"

२० जुलाई, १९१५

स्वामी तुरीयानन्द — क्या सहायता चाहते हो ? स्वयं को ही सब कुछ करना होगा। क्या तुम्हारे लिए सब कर देना पड़ेगा ? अपने मन से तो स्वयं ही काम कर लेना होगा। वह तो दूसरा कोई नहीं कर सकेगा। ठाकुर ने सौ बार कहा है, 'पहले स्वयं को कुछ करना होगा। बाद में गुरु बतला देंगे कि यह इस प्रकार करो।' यह तो हमने अपने जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव किया है कि ईश्वर की ओर हम एक पग आगे बढ़ें, तो वे हमारी ओर दस पग बढ़े चले आते हैं। यह हमारा प्रत्यक्ष अनुभव है। परन्तु स्वयं कुछ न करने पर किसी की बिसात नहीं कि वह हमारे लिए कुछ कर दे सके।

"महापुरुषगण राह दिखा देते हैं, मार्ग बतला देते हैं। क्या यह सहायता कुछ कम है ? तुम यदि दिल खोलकर अपना भाव बता सको, तो हम तुम्हें उपाय बतला सकते हैं। हम स्वयं जिस मार्ग से आये हैं, वह तुम्हें बता सकते हैं। तुम्हें सहायता दे सकते हैं। यहाँ तो मुश्किल यह है कि मक्खन निकालकर तुम्हारे मुँह के पास पकड़े रहना होगा, फिर भी तुम मुँह बन्द किये रहोगे ! क्या अपने हाथ से खिला देना होगा ? यह एक मानसिक व्याधि है। इसे 'स्त्यान' कहते हैं। इसमें मन कुछ करना नहीं चाहता--तनिक भी श्रम नहीं करना चाहता।

"तुम कहोगे, क्या भगवान् अपने भक्त के लिए कुछ भी नहीं करेंगे ? वे तो अवश्य ही करेंगे। परन्तु पहले तुम्हें भक्त बनना होगा, उनकी भक्ति करनी होगी। और वह भक्ति भी मामूली भक्ति न हो। उन्हें मन, प्राण, सर्वस्व समर्पित कर देना होगा। ऐसा यदि न कर सको, तो तुम्हें यह कहते हुए रोना चाहिए कि प्रभो, मैं तुम्हें नहीं पा सका, तुम्हारे प्रति मुझमें भक्ति नहीं हुई। लोग रुपये पैसे के लिए लोटा भरभर आँसू बहाते हैं, तब कहीं रुपया आता है। ऐसा यदि तुम न करो, तो भला भगवान् भी क्यों कुछ करें ? भगवान् के लिए यदि कोई निरानन्द बन जाय, तो जानो कि भगवान् उसके अत्यन्त निकट आ गये हैं, उसे अब भगवान् के दर्शन होने में देर नहीं। बस, उसे वह दिव्य आनन्द

अब मिलने ही वाला है।

"Mind (मन) को खूब analyse (विश्लेषण) करना चाहिए। बड़ी बारीकी से उसकी खोजबीन करनी चाहिए।

"ठाकुर ने मुझसे कहा था, 'काम को और अधिक बढ़ा दो।' मैं तो सुनकर मारे अचरज के भौंचक्का रह गया। सोचने लगा, ये कह क्या रहे हैं। काम को और बढ़ाना होगा। तब ठाकुर बोले, 'काम आखिर है क्या ? प्राप्ति की कामना ही न ? तो प्रभु को पाने की कामना करो और उस कामना को खूब बढ़ा दो। तब फिर अन्य सारी कामनाएँ अपने आप नष्ट हो जायगी।'

"(सेवक के प्रति---) साधन-भजन तो कुछ करते नहीं हो। सिर्फ काम ही करते हो। मेरी क्या सेवा कर रहे हो ! खाक कर रहे हो ! मैं तो कहता हूँ, यह जाने रहो कि प्रभु की कृपा से मैं अब भी स्वयं ही सब कुछ कर ले सकता हूँ, तुम्हारी सेवा की मुझे कोई जरूरत नहीं पड़ती। मैं तो कितनी बार कहता हूँ कि तुम यह क्या कर रहे हो ? यह तो चार रुपये तनख्वाह का कोई मामूली नौकर भी कर सकता है।

"(सेवक के बारे में---) अपने मन की बात मुझसे कुछ कहेगा नहीं। अपने मन का भाव छुपाये रखता है, हमेशा आड़ किये रखता है। पहले साल मैंने उससे खूब बातचीत की थी। उस समय मैं स्वयं उसे खींचा करता। पर क्या हमेशा ही उसे cell (कोठरी) में से खींचकर

बाहर निकालते रहना पड़ेगा ? इसमें क्या लाभ ? वे तो स्वयं सदा अपने cell (कोठरी) ही के भीतर घुसे रहेंगे !

मनुष्य मात्र का यह स्वभाव होता है कि केवल अपनी अच्छाई भर को लोगों के सामने रखे और बुराई को उनसे छुपा रखे। जो अपने दोषों को साफ साफ बता दे सकता है, उसके दोष शीघ्र दूर हो जाते हैं। अपनी बुराई कह डालना इतनी आसान बात नहीं। यह जाने रहो कि जो अपने दोषों को बतला सकता है, उसके भीतर कुछ है।

"सबको 'अपना' बना लेना होगा। इससे सब तुम्हारे 'अपने' बन जाएँगे। तुम जितना भगवान् की ओर बढ़ोगे, उतने ही तुम सरल और उदार बनोगे। ठाकुर सरलता की सजीव मूर्ति थे। हाथ के टूट जाने पर उसे दूसरों से छिपाये रखने के लिए उन्होंने हाथ को ढक रखा था, पर फिर खुद ही बुलाकर कहते हैं, 'ओ मधुसूदन, यह देखो।"

महाराज ने एक जन को पत्र लिखा--"यदि तुम में भगवान् के लिए निरानन्द आया हो, तो वह भाव जितना अधिक घनीभूत होगा, उतनी ही उनकी कृपा प्राप्त होगी। वह भाव और बढ़ाओ। पर यदि किसी दूसरे कारण से यह भाव आया हो, तो उसे यत्न-पूर्वक दूर कर दो।"

स्वामी तुरीयानन्द--जिसने सगुण ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है, वह यदि चाहे तो शीघ्र ही निगुण

भाव की भी अनुभूति प्राप्त कर सकता है । परन्तु वह जान-बूझकर रसास्वादन के लिए 'मैं' को बनाये रखता है । जिन्हें स्व-स्वरूप का बोध हो गया, उनकी हृदय-ग्रन्थि छिन्न-भिन्न हो गयी । वे निर्वाणमुक्ति नहीं चाहते । उन्हें संसार से भय नहीं होता । निर्वाणमुक्ति की चाह को ठाकुर हीनबुद्धि कहते थे । वह स्वयं को बचाकर चलना है ।

"भक्त के भगवान् भक्त पर प्रसन्न होते हैं और रुष्ट भी । ठाकुर कहते थे 'जिनमें अभिमान है, उनकी ओर मैं ताक भी नहीं सकता ।' जो निर्वाण न लेकर ईश्वर की ओर जाते हैं, वे ही ईश्वरकोटि के हैं ।"

२९ जुलाई, १९१५

स्वामी तुरीयानन्द --ईश्वर लाभ क्यों नहीं होगा ? अवश्य ही होगा ! यदि वह न हो, तो तुम लोग यहाँ आये किसलिए ? खूब रो-रोकर ईश्वर को परेशान कर डालो । उनके लिए सिर को पटक-पटककर फोड़ डालो । उनसे कहो, 'तुम तो अन्तःकरण देख सकते हो; देखो, मेरे भीतर कुछ है या नहीं ।' उनसे इस प्रकार कह सकना कोई मामूली बात नहीं ।"

३० जुलाई, १९१५

स्वामी तुरीयानन्द --एक दिन ठाकुर ने अपने गले की बीमारी के बारे में बतलाया था । उनसे पूछा गया था, 'क्या आपको इस पीड़ा का अनुभव होता है ?' इस पर उन्होंने कहा, 'तुम क्या बात करते हो ! क्या

शरीर कभी साधु बनता है ? मन ही साधु बनता है।' अन्यथा सिर्फ idiot (मूढ़) का सा शान्त भाव आयेगा। कष्ट का अनुभव हो रहा है, पर उसे चुपचाप दबाये रखा है--यह कोई बड़ी बात नहीं। परन्तु यदि यह बोध हो जाय कि ये कष्ट आदि सब शरीर के हैं, मेरे नही, मैं शरीर से अलग हूं, तब तो ठीक है।

"'यथावत् जरा दूरतः तावत्'[५] साधन-भजन कर लेना चाहिए। 'सन्दीपे भवने किं कूपखननम् ?'[६] प्रह्लाद ने यह कहा था।

"केवल suppression (अवरोध) से कुछ लाभ नहीं होता। संयम के साथ ही साथ एक उच्च भाव भी होना चाहिए। नहीं तो अवरुद्ध कर रखी हुई वृत्तियों का प्रवाह किसी दूसरे मार्ग से बहने लगता है। उन्हें एक नयी direction (दिशा) देनी पड़ती है, फिर वे अपने आप शान्त हो जाती हैं। 'मत्परः संयतेन्द्रियः'--भगवान् को परम अवलम्बन बताते हुए संयम करो। जैसे काम को नष्ट करना हो तो सोचो--'मैं प्रभु की सन्तान हूँ, मैं इतना हीन क्यों बनूँ ?' या सोचो--मैं तो शुद्ध बुद्ध मुक्त आत्मा हूँ' इससे काम को जीता जा सकता है।

"अपने पैरों पर खड़े होना माने ईश्वर से सम्बन्धित जो विराट् 'मैं' है, उस 'मैं' के आधार पर खड़े होना।

---

५. 'जब तक वार्धक्य दूर है तब तक'

६. 'घर में आग लग जाने के बाद कुआं खोदने से क्या लाभ ?'

अन्यथा, 'मैं अमुक हूं, मैं बी. ए. या एम. ए. पास हूँ' इस मैं के बल पर खड़े होना किसी काम का नहीं।

"कर्म मानो यज्ञ है। हरएक काम perfectly (बिलकुल सही सही) करना चाहिए। हर एक काम यथा योग्य रीति से सम्पन्न हो। प्रत्येक काम को साधना समझना चाहिए। तभी तो character (चरित्र) का निर्माण होगा।

"सोने के पहले ध्यान करना और ध्यान करते हुए सो जाना अच्छा है। विष्णु को इतना गहरा ध्यान लगा करता, पर ज्योंही ठाकुर उसे छू देते, त्योंही वह ध्यान से जागकर उनकी ओर टकटकी लगाये ताकने लगता। नृत्यगोपाल को इतना भावावेश होता कि आँखें उलट जातीं, छाती बिलकुल लाल हो उठती। जब वह ध्यान करता, तो उसका सारा खून चेहरे पर चढ़ जाता, चेहरा एकदम लाल हो जाता। ठाकुर उससे कहते, अरे, इतना ज्यादा नहीं, इतना ज्यादा नहीं। लोक-व्यवहार भी सम्हाले रखना होगा।'

"ठाकुर की देह ज्योतिर्मय थी। ऐसा प्रतीत होता मानो उनमें तनिक भी जड़त्व नहीं है। मैंने तो उन्हीं के पास कष्ट-सहिष्णुता सीखी थी। वीडन स्क्वेयर गार्डन और हेदुआ में मैं रातभर ध्यान-भजन और उनका नाम स्मरण करते हुए बिता देता। कभी कालीघाट, तो कभी केवड़ातला में रात बिताता।

"मैं अन्तःकरण से कह रहा हूँ रे कि मैं इसी क्षण

फिर से उसी अवस्था में लौट जा सकता हूँ--किसी ओर ताककर देखूँगा तक नहीं कि कहाँ क्या पड़ा रह गया। अब भी मैं मधुकरी माँगकर खा सकता हूँ। यह विश्वास यदि न रहे, तो मैं खतम ही हो गया।

"मनुष्य सदा अपनी सुविधा ही ढूँढ़ता रहता है। यह सुविधा ढूँढ़ना केवल इसी जन्म में नहीं, सैकड़ों जन्म से करता आ रहा है। और यह सुविधा ढूँढ़ना छोड़ देना ही मुक्ति है। कोई भी कष्ट नही उठाना चाहता। हर एक आदमी स्वयं को बचाये रखता है।

"स्वामीजी कहा करते, 'एक जीवन गढ़ना क्या मामूली बात है। कितना सतर्क रहना पड़ता है। चारों ओर कितना ध्यान रखना पड़ता है!' लोग भले ही मुझे क्षति पहुँचाएँ, पर फिर भी मैं उनका बुरा नहीं करूँगा--यह भाव रखना पड़ता है। सब कुछ सहन कर लेना पड़ता है। क्योंकि किसी के विरुद्ध कुछ करने जाओ, तो फिर rebound (प्रत्याघात) होता है। यह जीवन क्या बच्चों का खेल है। सर्वत्र केवल जन्म-मरण, जन्म-मरण--यही प्रवाह चल रहा है। और यह तो सब प्रकार के जीवन के परे जाने का प्रयास ठहरा! जो सदा सद्विचार करता रहेगा, वही बच पायगा।"

सारदा जगज्जननी आयी

ब्रह्मचारी श्रीधरचैतन्य

राग–शहाना, ताल–कहरवा

सारदा जगज्जननी आयी सकल जगत् का हरने भार।
दीनदुखी औ पापी तापी सब जन का करने उद्धार ।।ध्रु.।।

तत्त्व तुम्हारा अगम अगोचर, नाम-रूप-सीमा के पार।
ब्रह्ममयी निज रूप छिपाकर आयी हो तुम बन साकार ।।१

पावन मंगल रूप धरा है, नयनों में है प्रेम अपार।
कृपादृष्टि भवताप मिटावे, उर में सींचे अमृतधार ।।२

गुण-अवगुण का भेद नहीं है, पाप-पुण्य का नहीं विचार।
'माँ' कह जो भी शरण गहे है, करती हो तत्क्षण स्वीकार ।।३

तेरी ही करुणा से माँ अब आन पड़ा हूँ तेरे द्वार।
भवसागर से पार करो माँ दरसन देकर अबकी बार ।।४

स्वामी सुबोधानन्द

स्वामी ज्ञानात्मानन्द

साधु बनने के बाद अढ़ाई वर्ष तक बेलुड़मठ में रहने का सौभाग्य मुझे मिला था। उस समय हम लोग पूजनीय खोका महाराज (स्वामी सुबोधानन्दजी) के पास ही रहते थे। तब मठ का कार्यालय और ग्रन्थागार स्वामीजो (विवेकानन्दजी) के कमरे के पश्चिमवाले बड़े कमरे में था। हम लोगों को तब इस कार्यालय और ग्रन्थालय में ही कुछ कुछ काम करना पड़ता था, इसलिए अधिकांश समय हम लोग ऊपर खोका महाराज के कमरे के निकट ही रहते थे। रात में नीचे सोने के स्थान का अभाव होने से हम लोग ऊपर ही खोका महाराज के कमरे और स्वामीजी के कमरे के बीच के छोटे बरामदे में सोते थे। किन्तु उनके इतने निकट रहने पर भी उस समय हम लोग उनकी कोई विशेषता या माहात्म्य को नहीं समझ सके थे। वे वास्तव में ही खोका (बच्चा) के समान थे। वे हम लोगों के साथ ही पंगत में बैठकर भोजन करते और सब विषयों में हम लोगों जैसा ही ही व्यवहार करते। एक छोटा सा कुरता और छोटी धोती पहनते तथा स्वयं ही उसे साफ करते थे। उस समय उनका अपना कोई सेवक नहीं था। हम लोगों को बुलाकर बीच बीच में अपनी चिट्ठियाँ लिखवाते।

किन्तु सर्वदा यह भी ध्यान रखते कि पास के ही कमरे में रहनेवाले महापुरुष महाराज (शिवानन्दजी) को किसी प्रकार की असुविधा न हो। इसलिए वे धीमे स्वरों में अपनी चिट्ठी का मर्म बतलाते। ऐसे समय में यदि महापुरुष महाराज हम लोगों को पुकारते, तो एकदम अपनी चिट्ठी लिखवाना बन्द कर उसी क्षण उनके पास जाने के लिए कहते। वे तम्बाकू का सेवन करते थे, पर किसी ने भी उनको पूजनीय महाराज के सामने तम्बाकू का सेवन करते नहीं देखा। महापुरुष महाराज के साथ वर्तन करते समय भी उन्हें बच्चे-जैसा व्यवहार करते देखा है। एक दिन ढाका से कुछ भक्त महापुरुष महाराज को वहाँ ले चलने का अनुरोध लेकर आये। उनका स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण उन्होंने निमंत्रण स्वीकार नहीं किया और वे खोका महाराज के कमरे में आकर बोले, "खोका, ये भक्त ढाका से मुझे वहाँ ले जाने के लिए आये हैं पर मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, इसलिए तू एक बार वहाँ हो आ न।" इस पर खोका महाराज अपनी आँखें बड़ी बड़ी करके बोले, "न, न, मैं वहाँ नहीं जा पाऊँगा। वहाँ जाने पर रास्ते में बड़ी बड़ी नदियाँ पड़ती हैं, वह सब देख मुझे भय लगेगा।" पूजनीय महापुरुष महाराज ने भी खोका महाराज का बालक-स्वभाव जान इस विषय में जोर नहीं दिया।

किन्तु इसके दो-तीन साल बाद उनको अवश्य ढाका

जाना पड़ा था। ढाका के बलियाटी गाँव के श्रीरामकृष्ण आश्रम में ठाकुरजी की मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा होनी थी और वहाँ के जमींदार यामिनी राय के घर में भी थोड़ा पदार्पण करने की बात थी। इसलिए वे किसी प्रकार वहाँ जाने के लिए राजी हुए थे और चार-पाँच साधुओं को साथ ले ढाका के आश्रम में गये थे। तब हम लोग ढाका आश्रम में ही अन्तेवासी थे। उस समय उनके माहात्म्य को कुछ कुछ समझने का सुअवसर पाकर हम लोग धन्य हुए थे।

इसके कुछ दिन बाद वे हम कुछ साधु और भक्तों को साथ ले बलियाटी ग्राम में ठाकुर-प्रतिष्ठा करने के लिए रवाना हुए। यामिनी बाबू ने हम लोगों को ले जाने की व्यवस्था की थी। ऐसा ठीक हुआ था कि माणिकगंज तक स्टीमर में जाएँगे; बीच में एक जगह जहाँ उनकी आढ़त थी और जहाँ उनका व्यवसाय चलता था, हम लोगों के विश्राम और रात्रिवास की व्यवस्था थी। उस समय हम लोग सब मिलाकर आठ-दस जन थे। आढ़तवाला घर छोटा था। इसलिए हम सबके एक साथ सोने के लिए दरी बिछा दी गयी थी। दरी पर जिसे जहाँ जगह मिली, वह वहीं पर अपना छोटा सा बिस्तर बिछाकर सो गया। मेरा बिस्तर पूजनीय महाराज के बिछौने के पास ही बिछवाया गया, क्योंकि मैं दल में सबसे छोटा था और अन्य सब उम्र में बड़े लोग उनके पास सोने में संकोच कर रहे थे। इसी-

लिए उस प्रकार की व्यवस्था हुई थी। उस दिन चार बजे देखा पूजनीय महाराज अपने बिछौने पर बैठे गम्भीर ध्यान में मग्न हैं। मैं भी जल्दी से उठ उनके पास ध्यान करने बैठ गया। सन्त के एक-क्षण के संग-लाभ से हम लोग भी अनायास भव-सागर के पार चले जा सकते हैं।

बलियाटी में हम लोग कई दिन तक रहे। यह एक सम्पन्न ग्राम था तथा कई जमींदार लोग यहाँ पर निवास करते थे। वे सदा ही परस्पर झगड़े में व्यस्त रहते थे, पर पूजनीय महाराज के आगमन से उनका कलह दूर हो गया। आश्रम में श्रीठाकुरजी की प्रतिष्ठा हुई और वहाँ के तत्कालीन संचालक राधिकामोहन नें कुछ दिन बाद आकर बेलुड़मठ में संन्यास ग्रहण कर लिया। वे स्वामी सुन्दरानन्द के नाम से परिचित हुए। उन्होंने दीर्घकाल तक उद्बोधन पत्रिका के सम्पादक का कार्य-भार सँभाला था।

ढाका लौटकर खोका महाराज हम लोगों के साथ और कुछ दिन रहे। वे नित्य ही हम लोगों को अपने पूर्व जीवन की तपस्या और तीर्थ-भ्रमणादि की बातें सुनाते तथा नाना प्रकार के उपदेश दे हम लोगों के साधु जीवन को पुष्ट करने की चेष्टा करते। इस समय उन्होंने हम लोगों को गिरीशबाबू के सम्बन्ध में बहुत सी बातें बतलायी थीं। वे कहते कि यथार्थ विश्वास तो केवल गिरीशबाबू का ही था और केवल गिरीशबाबू

ने ही ठाकुर को ठीक ठीक पहचाना था। गिरीश कहते थे, "अरे, चैतन्यदेव ने और क्या किया? ज्यादा से ज्यादा जगाई-मधाई जैसे दो दुष्टों का उद्धार किया! किन्तु जगाई-मधाई तो हम लोगों के जीवन के मात्र एक अंश की छबि हैं। मै जहाँ बैठता था, लगता था वहाँ की सात हाथ जमीन तक अपवित्र हो गयी है। किन्तु मुझ-जैसे दुर्जन को भी किस प्रकार उन्होंने ऐसी उच्चावस्था तक उठा दिया! उनको अवतार न कहूँ तो फिर किसको कहूँगा?"

एक दिन जप-ध्यान के सम्बन्ध में खोका महाराज ने कहा "देखो, जप-ध्यान नहीं करने से कितने भी उच्च पुरुष के पास से मन्त्रदीक्षा क्यों न ली गयी हो, वह कभी प्रस्फुटित नहीं हो पाती।" इस प्रसंग में वे बतलाते, "देखो, मैं वृन्दावन में कुसुम सरोवर में पूजनीय महाराज (ब्रह्मानन्दजी) के साथ तपस्या करता था। किन्तु तुम तो जानते ही हो, मुझे बचपन से चाय पीने की एक लत है। इसलिए सुबह होते ही नारियल की नरेली ले गोस्वामी जी (विजयकृष्ण गोस्वामी) के आश्रम में पहुँच जाता और वहाँ चाय पी कुछ समय बाद लौट आता। उस स्थान से इस प्रकार मेरा गायब होना महाराज की आँखों से छिपा न रहा, एक दिन मुझको बुलाकर उन्होंने कहा, 'खोका तू यहाँ तपस्या करने आया है तो फिर इस प्रकार छटपट करके क्यों बाहर भाग जाता है?' उसके उत्तर में मैंने कहा 'महाराज, ठाकुर

तो हम लोगों को सब कुछ दे गये हैं, तब फिर तपस्या का और क्या प्रयोजन ?' यह सुन महाराज थोड़ा गम्भीर हो गये और उत्तर में बोले, 'यह सच है, खोका, कि वे सब कुछ देकर गये हैं, पर साथ ही वे यह भी तो कह गये हैं कि जप-ध्यानादि द्वारा इसकी उपलब्धि करो।' इसलिए मैं तुम लोगों से भी कहता हूँ कि तुमने चाहे किसी के पास से भी दीक्षा क्यों न ली हो, उसे जप-ध्यान द्वारा सिद्ध करो, सिर्फ बैठे रहने से नहीं होगा।" इसके उत्तर में हम लोग कभी कभी कहते, "महाराज, सारा दिन मठ-मिशन का काम करते करते हम लोग थक जाते हैं। इसलिए सुबह सुबह उठकर ठीक ठीक जप-ध्यान नहीं कर पाते। फिर मिशन के काम से हमें बाहर भी जाना पड़ता है।" उसके उत्तर में वे कहते, "रात में हलका भोजन करो और सोने के समय मन से सारे कामों की चिन्ता दूर कर दो, देखोगे शान्ति से सो पाओगे और सुबह उठने पर फिर कोई थकावट महसूस नहीं करोगे।"

वे एकदम कम भोजन करते। यदि कोई भक्त उन्हें निमन्त्रित करता, तो वे पहले ही पूछते, "क्या खिलाओगे ?" भक्त शायद अपनी विनय प्रदर्शित करते हुए कहता, "क्या और खिलाऊँगा, महाराज, बस थोड़ा सा दाल-भात।" वे यथासमय भक्त के घर जाते और जब खाने बैठते, तब देखते कि उनकी थाली नाना प्रकार के व्यंजनों से सजी हुई है। पर वे उस सबका स्पर्श न

करते और खाली दाल-भात खाकर चले आते। भक्त के बहुत अनुनय-विनय करने पर भी उनके इस क्रम में कोई परिवर्तन न होता। वे कहते, "बात की सत्यता रखनी होगी, ठाकुर हमें यही शिक्षा दे गये हैं।"

यह सन् १९२५ की बात होगी। इसके दूसरे साल वे कुछ साधुओं को साथ ले पुनः ढाका मठ आये और कुछ दिन वहाँ रहकर इन साधुओं और हममें से कुछ लोगों को ले सोनारगाँव के आश्रम में ठाकुर-प्रतिष्ठा के निमित्त रवाना हुए। पुनीत अक्षय तृतीया के दिन उनके पावन हाथों से वहाँ के मन्दिर में श्रीठाकुरजी की प्रतिष्ठा हुई। दोपहर में एक जन-सभा का आयोजन हुआ, जिसमें पूजनीय महाराज ने सभापति का आसन ग्रहण किया। सभा में जहाँ तक याद आता है, वक्ता लोगों ने इस तथ्य की सुन्दर रूप से व्याख्या की थी कि श्रीठाकुरजी की मूर्ति सर्वधर्म की प्रतीक है। यह सुन सभी मुग्ध हुए थे तथा उसके बाद हिन्दू-मुसलमानों ने बिना किसी भेदभाव के प्रसाद ग्रहण किया था।

इसके बाद पाँच-छह वर्ष तक मुझे उनके दर्शन नहीं मिले। मैं मठ-मिशन के कार्य से नाना स्थानों में घूमता रहा। पूजनीय खोका महाराज का स्वास्थ्य सोनारगाँव से लौटकर अत्यधिक परिश्रम के कारण टूट गया था, इसलिए स्वास्थ्य-लाभ के लिए उन्हें काशी-भुवनेश्वर आदि विभिन्न स्थानों में जाना पड़ा था। बाद में उनसे मेरी अन्तिम भेंट बहुत सम्भव सन् १९३२

के मध्य में हुई थी। उस समय उनका शरीर तपेदिक रोग से ग्रस्त हो गया था और दो सेवक सर्वदा उनकी सेवा में रहा करते थे। तब वे वर्तमान मठ-कार्यालय की ऊपरी मंजिल में रहते थे। उनके सेवक तथा मठ के अन्यान्य साधु लोग उनकी यथासाध्य सेवा करते थे। मैंने देखा कि उस रोग की यंत्रणा के बीच भी वे सदा प्रसन्नमुख हैं। हम लोगों को दूर से आया जान उन्होंने विस्तार से हमसे सब हाल पूछा। उनके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में पूछने पर व बोले, ''ठाकुर ने जैसा रखा है, वैसा ही हूँ।''

इसके कुछ दिन बाद ही उन्होंने देह छोड़ दी।

विभीषण-शरणागति (२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसर पर विभीषण-शरणागति पर एक प्रवचनमाला प्रदान की थी। प्रस्तुत लेख उसी का दूसरा प्रवचन है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में शिक्षक हैं। उनकी इस बहुमूल्य सेवा के लिए हम उनके आभारी हैं।—स०)

रावन जबहिं बिभीषन त्यागा।
भयउ बिभव बिनु तबहिं अभागा ॥३
चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं।
करत मनोरथ बहु मन माहीं ॥४
देखिहउँ जाइ चरन जल जाता।
अरुन मृदुल सेवक सुखदाता ॥५
जे पद परसि तरी रिषिनारी।
दंडक कानन पावनकारी ॥६
जे पद जनकसुताँ उर लाए।
कपट कुरंग संग धर धाए ॥७
हर उर सर सरोज पद जेई।
अहोभाग्य मैं देखिहउँ तेई ॥८

जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाइ।
ते पद आजु बिलोकिहउँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ ॥ ५/४२

एहि बिधि करत सप्रेम बिचारा।
आयउ सपदि सिंधु एहिं पारा ॥१

कपिन्ह बिभीषनु आवत देखा।
जाना कोउ रिपु दूत बिसेषा ।।२
ताहि राखि कपीस पहिं आए।
समाचार सब ताहि सुनाए ।।३
कह सुग्रीव सुनहु रघुराई।
आवा मिलन दसानन भाई ।४
कह प्रभु सखा बूझिऐ काहा।
कहइ कपीस सुनहु नरनाहा ।।५
जानि न जाइ निसाचर माया।
कामरूप केहि कारन आया ।।६
भेद हमार लेन सठ आवा।
राखिअ बाँधि मोहि अस भावा ।।७
सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी।
मम पन सरनागत भयहारी ।।८
सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना।
सरनागत बच्छल भगवाना ।।९

सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पावँर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि ।। ५/४३

अर्थ :- "रावण ने जिस क्षण विभीषण को त्यागा, उसी क्षण वह अभागा वैभव (ऐश्वर्य) से हीन हो गया। विभीषणजी हर्षित होकर मन में अनेकों मनोरथ करते हुए श्रीरघुनाथजी के पास चले। [वे सोचते जाते थे--] मैं जाकर भगवान् के कोमल और लाल वर्ण के सुन्दर चरणकमलों के दर्शन करूँगा, जो सेवकों को सुख देनेवाले हैं, जिन चरणों का स्पर्श पाकर ऋषिपत्नी अहल्या तर गयीं और जो दण्डकवन को पवित्र करनेवाले हैं। जिन चरणों को जानकीजी ने हृदय में धारण कर रखा है, जो कपटमृग के साथ पृथ्वी पर [उसे पकड़ने को] दौड़े थे और जो चरणकमल साक्षात् शिवजी के हृदयरूपी सरोवर में विराजते हैं, मेरा अहो-

भाग्य है कि उन्हीं को आज मैं देखूँगा। जिन चरणों की पादुकाओं में भरतजी ने अपना मन लगा रखा है, अहा! आज मैं उन्हीं चरणों को अभी जाकर इन नेत्रों से देखूँगा।

"इस प्रकार प्रेमसहित विचार करते हुए वे शीघ्र ही समुद्र के इस पार (जिधर श्रीरामचन्द्रजी की सेना थी) आ गये। वानरों ने विभीषण को आते देखा तो उन्होंने जाना कि शत्रु का कोई खास दूत है। उन्हें [पहरे पर] ठहराकर वे सुग्रीव के पास आये और उनको सब समाचार कह सुनाये। सुग्रीव ने [श्रीराम के पास जाकर] कहा--हे रघुनाथजी! सुनिए, रावण का भाई [आपसे] मिलने आया है। प्रभु श्रीरामजी ने कहा--हे मित्र! तुम क्या समझते हो (तुम्हारी क्या राय है)? वानरराज सुग्रीव ने कहा--हे महाराज! सुनिए, राक्षसों की माया जानी नहीं जाती। यह इच्छानुसार रूप बदलनेवाला (छली) न जाने किस कारण आया है। [जान पड़ता है] यह मूर्ख हमारा भेद लेने आया है, इसलिए मुझे तो यही अच्छा लगता है कि इसे बाँध रखा जाय। [श्रीरामजी ने कहा-] हे मित्र! तुमने नीति तो अच्छी विचारी। परन्तु मेरा प्रण तो है शरणागत के भय को हर लेना! प्रभु के वचन सुनकर हनुमान्‌जी हर्षित हुए [और मन ही मन कहने लगे कि] भगवान् कैसे शरणागतवत्सल (शरण में आये हुए पर पिता की भाँति प्रेम करनेवाले) हैं। [श्रीरामजी फिर बोले--] जो मनुष्य अपने अहित का अनुमान करके शरण में आये हुए का त्याग कर देते हैं, वे पामर (क्षुद्र) हैं, पापमय हैं, उन्हें देखने में भी हानि है (पाप लगता है)।"

अभी आपके सामने जो पंक्तियाँ पढ़ी गयीं, उनमें यह व्यक्त हुआ है कि विभीषण अपने हृदय में किन भावनाओं को उठाते हुए तथा किन भक्तों का स्मरण करते हुए भगवान् श्रीराम के निकट जाते हैं। जब वे

समुद्र पार करने के बाद प्रभु के पास आते हैं, तब अचानक बन्दरों द्वारा रोक लिये जाते हैं। प्रभु के पास विभीषण के आगमन की सूचना पहुँचायी जाती है। वहाँ पर विभीषण को लेकर विवाद होता है। तत्पश्चात् विभीषण बुलाये जाते हैं और उन्हें प्रभु स्वीकार करते हैं। विभीषण की यह गाथा हमारी और आपकी गाथा है--संसार के प्रत्येक जीव की गाथा है। 'विनयपत्रिका' में गोस्वामी तुलसीदासजी ने लंका में रहनेवाले इस विभीषण को वस्तुतः जीव के रूप में ही चित्रित किया है। वे कहते हैं--

> **जीव भवदंघ्रि-सेवक विभीषण**
> **बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसितचिंता। ५८/६**

--'आपके चरणकमलों का सेवक जीव विभीषण है, जो इन दुष्टों से भरे हुए वन में सर्वथा चिन्ताग्रस्त हुआ निवास कर रहा है।' जब हम श्री भरत, श्री लक्ष्मण या श्री हनुमान्जी के बारे में पढ़ते हैं, तो पाते हैं कि वे पवित्र स्थान में निवास करते हैं, उनके आसपास के लोग भी पवित्र और भक्त हैं। पर जब हम विभीषण की बात पढ़ते हैं, तो देखते हैं कि वे एक ऐसे पात्र हैं, जो स्वयं मूलतः अच्छा होते हुए भी ऐसी परिस्थितियों, मान्यताओं और व्यक्तियों से घिरा हुआ है कि वह चाहकर भी ईश्वर के सन्मुख नहीं आ पाता। फिर यह भी अनोखी बात है कि वह पात्र ईश्वर तक पहुँचकर भी कुछ देर तक रुका रहता है। इस प्रकार विभीषण

की गाथा में हम एक विचित्र प्रकार का विरोधाभास देखते हैं, जो बहुधा हम सबको अपने जीवन में दिखायी देता है। ऐसे व्यक्ति विरले ही होंगे, जो समस्त अनुकूलताओं में घिरे हुए होते हुए भी भगवान् की ओर जाते हों, क्योंकि बहुधा देखा यही जाता है कि भगवान् की शरण में जाने की चेष्टा करनेवाले अधिकांश व्यक्तियों के जीवन में समस्याएँ होती हैं, विपरीत मान्यताएँ और परिस्थितियाँ होती हैं, संस्कार होते हैं, जिन्हें पार कर उन्हें भगवान् की ओर बढ़ना होता है। पूर्व प्रवचन में आपके सामने इसी सन्दर्भ में विभीषण के पूर्व जन्म की कुछ बातें रखी गयी थीं। इसका तात्पर्य यही है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवेशों से जुड़ा होकर ही ईश्वर तक पहुँचने की यात्रा करता है। वैसे तो प्रत्येक जीव के जीवन में यह यात्रा चल रही है, पर यह यात्रा हर जीव के लिए अलग अलग हो जाती है। इसका कारण वह पुनर्जन्मवादी सिद्धान्त है, जो यह मानकर चलता है कि व्यक्ति की यात्रा का श्रीगणेश इस सामने दीखनेवाले जीवन से ही नहीं होता, बल्कि वह यात्रा तो उसके पूर्व जन्मों से चलती आ रही है और वह उन जन्मों से अपने साथ कुछ लेकर चलता रहा है। भले ही वह अपने शरीर के साथ ही अन्य सम्बद्ध वस्तुओं को भी पूर्व पूर्व जन्मों में छोड़ता आया हो, पर उसके संस्कार और प्रारब्ध कर्म साथ ही बने रहते हैं। इसे यों समझा जा सकता है। एक ही ट्रेन में अनेक यात्री यात्रा कर रहे हैं, पर सबको

यात्रा में समान अनुभूति नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक का यात्रा का ढंग, पाथेय भिन्न है। इसी प्रकार प्रत्येक जीव का प्रारब्ध, उसका पाथेय भिन्न होता है और वह उसके अनुसार सुख या दुःख का भोग करता है।

तो, हम प्रथम प्रवचन में कह रहे थे कि विभीषण अपने पूर्व जन्म में धर्मरुचि के नाम से परिचित थे। वैसे देखा जाय तो प्रत्येक साधना 'धर्मरुचि' से ही प्रारम्भ होती है और उसका समापन 'धर्मसार' में होता है। प्रारम्भ में आपके सामने जो पंक्तियाँ पढ़ी गयीं, उनमें विभीषण का चिन्तन भरतजी का स्मरण करते हुए ही समाप्त होता है--

जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाइ।
ते पद आजु बिलोकिहउँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ ।।५/४२

श्री भरत के सम्बन्ध में 'रामचरितमानस' में गुरु वसिष्ठ के जो वचन हैं, वे आपके सामने पूर्व में कभी रखे भी गये हैं। जब श्री भरत वसिष्ठजी से प्रश्न करते हैं कि यदि मैं नन्दिग्राम में कुटी बनाकर रहूँ, तो धर्म की दृष्टि से अनौचित्य तो नहीं होगा; तो इस पर गुरु वसिष्ठ कहते हैं– भरत ! मैंने यह निर्णय कर लिया है कि अब धर्म का निर्णय शास्त्रों के आधार पर न करके तुम्हारे चरित्र के आधार पर करेंगे। मेरी तो यह मान्यता हो गयी है कि--

समुझब कहब करब तुम्ह जोई।
धरम सारु जग होइहि सोई ।।२/३२२/८

——'तुम जो कुछ समझोगे, कहोग और करोगे, वही जगत् में धर्म का सार होगा।'

तो, विभीषणजी का पूर्व जन्म का नाम है धर्मरुचि और श्री भरत हैं धर्मसार। विभीषण की समस्या यह है कि पूर्व जन्म में जब वे धर्मरुचि थे, तब प्रतापभानु और अरिमर्दन के साथ इतना जुड़ गये थे, जितना उन्हें नहीं जुड़ना चाहिए था। एक विचित्र बात आप पाएँगे कि गोस्वामीजी ने विभीषण के पूर्व जन्म का परिचय देते हुए जो दो पंक्तियाँ लिखी हैं, उनमें एक प्रकार से पुनरुक्ति की गयी है। वैसे साहित्य की दृष्टि से पुनरुक्ति एक दोष है, पर दर्शन या चिन्तन में जब किसी बात पर विशेष बल दिया जाता है, तो उसे बार बार दुहराया जाता है। वहाँ पर पुनरुक्ति को दोष नहीं माना जाता। गोस्वामीजी ने जो दो पंक्तियाँ लिखी हैं, उनमें पहली है——

> नृप हितकारक सचिव सयाना।
> नाम धरमरुचि सुक्र समाना ॥ १/१५३/१

और दूसरी पंक्ति है——

> सचिव धरमरुचि हरि पद प्रीती।
> नृप हित हेतु सिखव नित नीती ॥ १/१५४/३

पहली पंक्ति में कहा है कि धर्मरुचि प्रतापभानु का हितकारक है और दूसरी पंक्ति में उसी को दुहराते हुए बताया गया कि धर्मरुचि प्रतापभानु का हित करने के लिए उसे नित्य नीति की शिक्षा दिया करता था।

मानो गोस्वामीजी यह बताना चाहते हैं कि धर्मरुचि के जीवन में प्रतापभानु का हित ही सबसे बड़ी मान्यता है, इसीलिए एक ही बात को पास पास की पंक्तियों में दुहराना गोस्वामीजी ने आवश्यक समझा। अब एक प्रश्न उठता है कि किसी का हित चाहना या हित करना धर्म है या अधर्म ? इस प्रश्न का उत्तर तो बड़ी सरलता से दिया जा सकना चाहिए, क्योंकि 'रामचरितमानस' में ही कहा गया है कि--

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥ ७/४०/१

--परहित से बढ़कर कोई धर्म नहीं है और दूसरे को पीड़ा पहुँचाने से बढ़कर कोई पाप नहीं। इससे तो यही अर्थ निकला कि जब धर्मरुचि राजा का हित ही साधन करने का आकांक्षी है, तब वह धर्म ही का पालन कर रहा है। पर बात ऐसी नहीं है। भले ही शास्त्रों ने परोपकार को बहुत बड़ा धर्म बताया हो और 'मानस' में भी सन्तों के लक्षण बताते हुए कहा गया हो कि--

संत सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेहु। १/३ (ख)

--वे जगत् के हितकारी होते हैं, तथापि यह जो धर्मरुचि का प्रतापभानु का हित करना है, वह क्या धर्म की, सन्तत्व की परिभाषा में लिया जा सकता है ? धर्मरुचि के प्रसंग में गोस्वामीजी ने इसका बड़ा विलक्षण विश्लेषण किया है और वह साधक के जीवन के लिए बड़ा हितकारी सूत्र है। धर्मरुचि प्रतापभानु के

हित में तो अनुरक्त था ही. पर जब वह विभीषण बना और प्रतापभानु रावण, तब भी वह विभीषण के रूप में रावण का हित ही चाहता है। विभीषण के उन शब्दों पर जरा गौर कीजिए, जो वे रावण द्वारा सभा से निकाले जाने से कुछ ही देर पहले कहते हैं--

तात चरन गहि मागउँ राखहु मोर दुलार।
सीता देहु राम कहुँ अहित न होइ तुम्हार॥ ५/४०

--'हे तात! मैं चरण पकड़कर आपसे विनती करता हूँ कि आप मेरा दुलार रखिए; श्री रामजी को सीताजी दे दीजिए, जिसमें आपका अहित न हो।' यहाँ पर भी वही हितकामना है। पर यह अनोखी बात है कि धर्मरुचि की यह परहित-कामना उसे राक्षस बना देती है और हित की वही व्यग्रता आज विभीषण को भगवान् के पास पहुँचने में देर करा देती है। कहा जा सकता है कि यदि विभीषण ने रावण के हित की इतनी चिन्ता न की होती, तो सम्भवतः वे इससे पहले भी भगवान् को प्राप्त कर ले सकते थे। और इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि यदि धर्मरुचि ने प्रतापभानु के हित के लिए इतनी तत्परता न दिखायी होती, तो सम्भवतः वह राक्षस न बन पाता। इससे क्या यह तात्पर्य ले लिया जाय कि मनुष्य को दूसरे का हित करने का प्रयास नहीं करना चाहिए, उसे हित-वृत्ति छोड़ देनी चाहिए? नहीं, ऐसी बात नहीं। हित का परित्याग तो नहीं

करना है, पर यह भी नहीं मान लेना है कि यह हित ही सब कुछ है। हित भले ही धर्म है, पुण्य है, पर हमें ऐसा मानकर निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिए कि चलो, हमने हितरूप धर्म का आश्रय ले लिया, इसलिए हमारा पतन नहीं होगा। कारण, पुण्य भी अपने आप में कोई पूर्ण वस्तु नहीं है। इसे यों कह लें, रोग तो रोग है ही, पर क्या दवा भी एक रोग नहीं है ? बात बड़ी अटपटी-सी लगती है, पर है सत्य। दवा भी तो एक रोग ही है। जो लोग दवा लेते रहते हैं, वे इस तथ्य का अनुभव करेंगे में भी एक भुक्तभोगी हूँ। मुझे भी लगता है कि दवा एक रोग है। कैसे ? दवा रोग को मिटाती है सही, पर प्रतिक्रिया के रूप में एक नये रोग को जन्म भी देती है, भले ही हम इस प्रतिक्रिया को, दवा के इस दुष्परिणाम को रोकने के लिए अन्य ओषधि का प्रयोग करें। तात्पर्य यह कि दवा ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो पूर्णतः निर्दोष हो। 'रामचरितमानस' में कहा गया है कि--

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार। १/६

--'विधाता ने इस जड़-चेतन विश्व को गुण-दोष-मय रचा है।' तो, जब संसार के सारे पदार्थ ही गुण और दोष से मिलकर बने हैं, तो दवा भी तो आखिर इन्हीं पदार्थों में से एक है। अतः वह भी अच्छाई और बुराई से मिली हुई है। वह हमारे जीवन में किसी समस्या का समाधान तो कर देती है, पर साथ ही अपना

कोई न कोई प्रभाव भी अवश्य छोड़ जाती है। दवा का यह सत्य मन के पुण्यों का भी सत्य है। पाप रोग है और पुण्य दवा। पाप के रोग को नष्ट करने के लिए हम पुण्य की दवा लेते हैं, तथापि जीवन का सत्य यही है कि वह पुण्य की दवा पाप के रोग को नष्ट करके स्वयं कुछ समस्याओं की सृष्टि कर देती है। अतः ऐसा कहा जा सकता है कि प्रतापभानु का पतन यदि रोग के कारण हुआ, तो धर्मरुचि का दवा के कारण। एक का पतन यदि पाप के कारण हुआ, तो दूसरे का पुण्य के कारण। 'रामचरितमानस' के उत्तर-काण्ड में जहाँ पर मानस-रोगों की तुलना शरीर के रोगों से की गयी है, इस तत्त्व को प्रकट किया गया है कि जैसे आयुर्वेद शरीर-रोग के मूल में कफ या पित्त या वात का बढ़ना देखता है, उसी प्रकार मनोरोग के मूल में दार्शनिक त्रिगुण की विकृति देखता है। गोस्वामीजी कहते हैं (७/१२०/३०-३१,३५-३७)--

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा।।
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई।
उपजइ सन्यपात दुखदाई।।
अहंकार अति दुखद डमरुआ।
दंभ कपट मद मान नेहरुआ।।
तृस्ना उदरबृद्धि अति भारी।
त्रिबिधि ईषना तरुन तिजारी।।
जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका।

--'काम वात है, लोभ बढ़ा हुआ कफ है और क्रोध पित्त है, जो सदा छाती जलाता रहता है। यदि कहीं ये तीनों भाई प्रीति कर लें, तो दुःखदायक सन्निपात रोग उत्पन्न होता है। अहंकार अत्यन्त दुःख देनेवाला डमरू (गाँठ का) रोग है। दम्भ, कपट, मद और मान नहरुआ (नसों का) रोग है। तृष्णा बड़ा भारी उदरवृद्धि (जलोदर) रोग है। तीन प्रकार (पुत्र, धन और मान) की प्रबल एषणाएँ प्रबल तिजारी हैं। मत्सर और अविवेक दो प्रकार के ज्वर हैं।'

किसी ने पूछा-गोस्वामीजी ! और कितने रोग हैं ?

गोस्वामीजी बोले--

कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका। ७/१२०/३७

--भाई, कहाँ तक गिनाऊँ ! बुरे रोग तो अनेक हैं। और देखो, मनुष्य तो एक रोग की चपेट में ही निढाल हो जाता है, फिर जहाँ एक साथ ये अनेक असाध्य रोग उस पर आक्रमण करते हों वहाँ उस पर कैसी बीतती होगी, कल्पना करके देखो। वह कैसे शान्ति पाएगा ?--

एक ब्याधि बस नर मरहिं ए असाधि बहु ब्याधि।
पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहै समाधि॥ ७/१२१(क)

प्रश्नकर्ता ने पुनः पूछा--तो, गोस्वामीजी, इन रोगों की दवाइयाँ ? गोस्वामीजी बोले--दवाइयाँ कम थोड़े ही हैं। बाजार में जाओ तो दवाइयों की लम्बी दुकानें मिलेंगी--एक एक रोग की सैकड़ों दवाइयाँ

मिलेंगी। हमारे यहाँ शास्त्रों ने क्या कम दवाइयों का विधान किया है ? सुनो--

नेम धर्म आचार तप ग्यान जग्य जप दान।
भेषज पुनि कोटिन्ह . . . . ॥ ७/१२१ (ख)

--नियम, धर्म, आचार, तप, ज्ञान, यज्ञ, जप, दान, तथा और भी करोड़ों ओषधियाँ है।

तो फिर समस्या क्या है,गोस्वामीजी?--उसने पूछा।

"समस्या यह है," गोस्वामीजी बोले--"**नहिं रोग जाहिं हरिजान**" (७/१२१ ख)--उन ओषधियों से ये रोग नहीं जाते, पुण्य की दवाओंसे पाप का रोग नहीं जाता ! ऐसी बात नहीं कि उन दवाओं से लाभ न होता हो, वे दवाएँ रोग पर लाभकारी तो होती हैं, पर साथ ही वे एक परिणाम की सृष्टि भी करती हैं। यही कारण है कि आयुर्वेद शास्त्र में बड़ी वैज्ञानिक पद्धति से नियम बनाये गये हैं। गोस्वामीजो आगे चलकर साधक की साधना में इसका उल्लेख करते हैं। आयुर्वेद में जब कोई दवा दी जाती है, तो वैद्य आपसे कहते हैं कि इस ओषधि के साथ आप इस अनुपान का सेवन कीजिए। जैसे, दवा यदि किसी रस के रूप में है, तो वे कहेंगे कि इसे शहद के साथ लीजिए, या दूध के साथ, या अदरक के रस के साथ। फिर अनुपान के साथ ही पथ्य पर भी बड़ा बल दिया गया है। किस ओषधि के साथ कौन सा पथ्य चलेगा, भोजन किस प्रकार का रहेगा, इस पर भी आयुर्वेद में बड़ा विचार किया गया है। मानस-रोगों के

साथ भी यही समस्या है। अनुपान के दो उद्देश्य होते हैं---एक तो ओषधि के गुण को बढ़ाना और दूसरे, ओषधि से उत्पन्न होनेवाली विपरीत प्रतिक्रियाओं का उपशमन करना। जैसे, मान लीजिए, ओषधि से रोग तो दूर हो गया, पर शरीर में उष्मा बढ़ गयी। तो वैद्य ऐसा अनुपान देगा, जिसकी तासीर शीत हो और जो उष्मा का शमन कर सके। इसी प्रकार पाप का रोग दूर करने के लिए केवल पुण्य की दवा से काम नहीं चलता, बल्कि उसके साथ ही कुछ सावधानियाँ भी बरतनी पड़ती हैं, जिन्हें हम अनुपान कह सकते हैं। यदि साधक पुण्य करते हुए, सत्कर्म करते हुए उन अनुपानों का सही सही प्रयोग करेगा, तो पुण्य के सम्भावित दुष्परिणामों से वह अधिक से अधिक बच सकेगा। अन्यथा वह पुण्य की ओषधि उस रोग को तो दूर कर देगी, जिसके लिए उसका सेवन किया गया है, पर साथ ही किसी न किसी प्रतिक्रिया को भी उत्पन्न कर देगी। समझाने के लिए एक दृष्टान्त का प्रयोग करें। रोग के मूल में आयुर्वेदशास्त्र की मान्यता के अनुसार ये जो तीन वात, कफ और पित्त हैं, उनको गोस्वामीजी क्रमशः काम, लोभ और क्रोध के रूप में देखते हैं। मनुष्य के अन्तर्मन के काम, लोभ और क्रोध ये तीन मुख्य विकार हैं। इनको दूर करने के लिए कौन सी दवा है? काम के रोग को दूर करने के लिए संयम की, ब्रह्मचर्य की ओषधि दी गयी। अब जो संयम से रहेगा, ब्रह्मचर्य का

पालन करेगा, स्वभावतः वह काम पर विजयी हो जायगा। पर प्रश्न यह है कि यह दवा अपनी प्रतिक्रिया कैसे उत्पन्न करती है, एक नये रोग का कारण कैसे बनती है? इसे समझने के लिए रामायण के दो पात्र ले लीजिए, जो अपने को ब्रह्मचारी मानते हैं। एक हैं परशु-रामजी और दूसरे हैं नारदजी। वैसे तो हनुमान्जी भी ब्रह्मचारी हैं, पर वे न तो कभी अपने मुँह से कहते हैं कि मैं ब्रह्मचारी हूँ, और न गोस्वामीजी ही उनका उल्लेख ब्रह्मचारी के रूप में करते हैं। भले ही उन्होंने हनुमान्जी की स्तुति में कहा--"अतुलितबलधाम हेम-शैलाभिदेहं सकलगुणनिधानम्', पर उनके सन्दर्भ में ब्रह्मचर्य का स्मरण नहीं किया। पर जब परशुराम और नारद के प्रसंग आये, तो दोनों में ब्रह्मचारी के रूप से उनका परिचय उन्होंने कराया। परशुरामजी तो स्वयं अपना परिचय देते हुए कहते हैं कि मैं ब्रह्मचारी हूँ--**'बाल ब्रह्मचारी अति कोहो'**(१/२७१/६), और नारदजी के सन्दर्भ में भगवान् कहते हैं कि आप तो ब्रह्मचारी हैं--**'ब्रह्मचरज ब्रत रत मतिधीरा,** (१/१२८/२) आपको भला काम सता सकता है? पर हम देखते हैं कि परशुराम और नारद दोनों का ब्रह्मचर्य उनके जीवन में एक एक समस्या की सृष्टि कर देता है। नारद जी बेचारे तो काम के चक्कर में ऐसा पड़े कि बड़ी कठिनाई से बच पाये। परशुरामजी के जीवन में भले ही काम की विजय दिखायी देती है, पर उनका ब्रह्मचर्य क्रोध को उत्पन्न कर देता है। वे

कहते भी हैं--'मैं बालब्रह्मचारी हूं, बड़ा क्रोधी हूँ।' वैसे भी ब्रह्मचारियों में क्रोध की मात्रा अधिक देखी जाती है। मैं यहाँ के ब्रह्मचारियों की बात नहीं कह रहा हूँ, पर बहुधा ही ब्रह्मचारी लोग बड़े क्रोधी होते हैं। क्रोध क्यों आता है ?--'संगात् संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते' (गीता, २/६२)--संग से कामना उत्पन्न होती है और कामना से क्रोध उपजता है। अब बड़ी अटपटी बात है कि कामी भी क्रोधित होता है और काम को जीतनेवाला भी। इन दोनों में यह एकता कहाँ से आ गयी ? इसका रहस्य यह है कि यदि ब्रह्मचर्य किसी के जीवन में निषेधमूलक धर्म के रूप में ही रहेगा, तो मनुष्य अवश्य क्रोधी होगा। वस्तुतः ब्रह्मचर्य मात्र निषेधमूलक नहीं है, वह विधिमूलक है। ब्रह्मचारी शब्द का अर्थ होता है ब्रह्म में चर्या करनेवाला। साधारणतया ब्रह्मचारी से यही समझा जाता है कि वह विवाह नहीं करता वह पृथ्वी पर या तख्ते पर सोता है, विशेष नियमों का पालन करता है। पर ये सब निषेधमूलक अर्थ हुए। विधिमूलक अर्थ यह है कि वह ब्रह्म में रमण करता है। अब जो गृहस्थ है, कामासक्त है, उसके जीवन में बहुत से दोष हो सकते हैं और होते हैं, पर उसके साथ एक बात यह होती है कि वह परिवार में रहने के कारण प्रतिकूलताओं का अभ्यस्त हो जाता है। पर जिसके जीवन में मात्र निषेधमूलक ब्रह्मचर्य है, वह केवल विरोधी वस्तुओं का चिन्तन करता रहता है और जब

भी कोई प्रतिकूल वस्तु उसके सामने आती है, उसमें क्षोभ उत्पन्न होता हैं। अभिप्राय यह है कि काम पर विजय होने में ही ब्रह्मचर्य की पूर्णता नहीं है। इसे यों कह सकते हैं कि जब तक ब्रह्मचारी भी किसी न किसी प्रकार से विवाह नहीं कर लेता, तब तक उसका ब्रह्मचर्य पूर्णत्व को नहीं प्राप्त होता। आप सोचेंगे कि मैं कैसी उल्टी बात कह रहा हूं, ब्रह्मचारी के विवाह करने की बात कह रहा हूँ। पर यदि आप थोड़ी गहराई से इस पर विचार करें, तो इसकी सत्यता आपको दिखायी पड़ेगी। ब्रह्मचारी का विवाह ब्रह्म से होना है, 'ब्रह्मचर्य' शब्द का जो विधिमूलक अर्थ है, उसे ब्रह्म में रमण करते हुए सार्थक करना है। एक व्यक्ति काम की दृष्टि से विवाह करता है। पत्नी से मिलन में कामासक्ति है, पर ब्रह्म से मिलन में कामासक्ति का उत्कृष्टतम प्रयोग है। परशुराम और हनुमान्जी के ब्रह्मचर्य में यही पार्थक्य है। परशुराम ब्रह्मचारी तो हैं, पर दुर्भाग्य से वे भगवान् भी हैं, इसलिए एक बड़ी कठिनाई उपस्थित हो जाती है। पर हनुमान्जी ऐसे ब्रह्मचारी हैं, जो भगवान् नहीं हैं, भक्त हैं,जिनके भगवान् अपने से भिन्न हैं,इसलिए हनुमान्जी अपने भगवान् में रमण कर सकते हैं। पर भगवान् परशुराम के लिए यह सम्भव नहीं, क्योंकि वे स्वयं भगवान् हैं! हनुमान्जी के सन्दर्भ में तो यह अनोखी बात है कि भक्त तो है ब्रह्मचारी और उसका भगवान् है गृहस्थ! इसलिए भक्त यह कभी सोच नहीं

सकेगा कि गृहस्थ हीन होता है और ब्रह्मचारी उत्कृष्ट। ब्रह्मचारी को उसकी यह उत्कृष्टता की भावना ही तो मारती है। और हनुमान्जी कैसे हैं? न केवल उनके भगवान् गृहस्थ हैं, पर वे अपने भगवान् के प्रेम-पत्र के हरकारे भी बनते हैं। भगवान् राम और श्री सीताजी एक दूसरे को जो प्रेम-पत्र लिखते हैं, उसको एक दूसरे के पास पहुँचाने का काम हनुमान्जी को मिलता है। वे भगवान् राम के विरह का सन्देशा जानकीजी को सुनाते हैं और जानकीजी के विरह का सन्देशा श्री राम को। यदि उन्हें अपने ब्रह्मचर्य के प्रति अहंकार की बुद्धि होती, तो जब वे भगवान् को पत्नी के विरह में रोते देखते, वे उन्हें प्रणाम कर चल पड़ते कि ऐसे भगवान् को प्रणाम, जो स्वयं पत्नी के लिए रो रहा है। कहते, यह भी कोई भगवान् है? गुणवान् व्यक्ति दूसरे में अवगुण बड़ी जल्दी देखता है। नारदजी इसी समस्या से तो ग्रस्त हुए। जब ब्रह्मचारी नारद काम को जीतकर क्षीरसिन्धु में पहुँचे, तो देखा कि भगवान् शेषशय्या पर सो रहे हैं और लक्ष्मीजी चरण दबा रही है। नारदजी के मन में कहीं विचार की एक क्षीण रेखा तो खिंच ही गयी कि भले ही ये भगवान् होंगे, पर हैं तो हमसे कुछ छोटे ही। कहाँ मैं काम का विजेता और कहाँ ये लक्ष्मीजी की गोद में चरण रखे दबवा रहे हैं! गोस्वामीजी लिखते हैं--

छीरसिंधु गवने मुनिनाथा।
जहँ बस श्रीनिवास श्रुतिमाथा।।१/१२७/४

——नारदजी ऐसे स्थान पर गये, जहाँ पर लक्ष्मी स्वयं रहती हैं। यही दृष्टि का भेद है। लक्ष्मीजी को भगवान् के चरणों में देखकर श्रद्धा होनी चाहिए या अश्रद्धा ? यदि नारदजी में अहंकार न होता, तो श्रद्धा उत्पन्न होती, पर अहकार आ गया, तो अश्रद्धा उत्पन्न हो गयी। यदि नारदजी में श्रद्धा की दृष्टि होती, तो लक्ष्मीजी को देखकर उन्होंने अन्य भक्तों के समान ही विचार किया होता कि भई, लक्ष्मी का एक नाम है चंचला। संसार में कहीं भी देखें, कोई घर, कोई समाज, कोई जाति या कोई देश ऐसा नहीं है, जो हर समय धनी बना रहा हो, जिसने निर्धनता कभी न देखी हो। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा, जिसके यहाँ पीढ़ी दर पीढ़ी लक्ष्मी का निवास रहा हो, जिसके यहाँ दरिद्रता कभी आयी न हो। जहाँ पर अथाह धन है, वहाँ भी धीरे धीरे लक्ष्मी का ह्रास देखा जाता है। तो, लक्ष्मी हैं बड़ी चंचला और व्यक्ति बेचारा लक्ष्मी की चंचलता को रोकने के लिए क्या नहीं करता ! वह बैंक में धन रखता है, तिजौरी में मोटे ताले लगाता है। जाने कितने उपाय करता है, पर लक्ष्मी हैं कि जब जाना चाहती हैं, तब किसी न किसी मार्ग से निकल जाती हैं। यदि नारद इस दृष्टि से देखते कि जिस चंचला लक्ष्मी को आज तक कोई रोक न पाया, वही यहाँ भगवान् के चरणों में अपनी चंचलता को त्यागकर किस प्रकार शान्ति से बैठी हुई हैं, तो भगवान् के प्रति वे श्रद्धा से नत हो जाते। गोस्वामीजी लिखते हैं——

जासु कृपा कटाच्छु सुर चाहत चितव न सोइ ।
राम पदारबिंद रति करति सुभावहि खोइ ।।७/२४

——'देवता जिनका कृपाकटाक्ष चाहते हैं, परन्तु वे उनकी ओर देखती भी नहीं, वे ही लक्ष्मीजी अपने स्वभाव को छोड़कर प्रभु के चरणारविन्द में प्रीति करती हैं ।' एक संस्कृत सुभाषित में कहा गया है——'उद्योगिनं पुरुषसिंह-मुपैति लक्ष्मी'——जो उद्योगी हैं, निरन्तर जाग्रत् हैं, लक्ष्मी उनके पास रहती हैं । इसका अर्थ यह कि जो सोया, वह खोया । पर भगवान् तो ऐसे हैं, जो सोते रहते हैं, जो लक्ष्मीजी की तनिक चिन्ता नहीं करते । पर लक्ष्मी हैं कि उनके चरणों को छोड़कर कहीं जाती नहीं हैं ।

लक्ष्मी के सन्दर्भ में गोस्वामीजी ने एक बड़ी सुन्दर बात कही है । जब वे काव्य की दृष्टि से श्री सीताजी के सौन्दर्य का वर्णन करने लगे, तो उन्हें सारी उपमाएँ तुच्छ लगीं । किसी ने सुझाव दिया——गोस्वामीजी, आप सीताजी की तुलना लक्ष्मीजी से क्यों नहीं कर देते? गोस्वामीजी बोले——भाई, लक्ष्मीजी में अवश्य ही अनेक गुण हैं, पर उनके साथ दो जबरदस्त दोष जुड़े हुए हैं——

विष बारुनी बंधु प्रिय जेही ।
कहिअ रमासम किमि बैदेही ।। १/२४६/६

——उन्हें अपने विष और वारुणि इन दो भाई-बहनों से बड़ा प्रेम है । अतः ऐसी लक्ष्मीजी से जानकीजी की कैसे उपमा हो सकती है ? तात्पर्य यह है कि लक्ष्मीजी जहाँ जाती हैं, इन दो भाई-बहनों को भी अपने साथ लेती

जाती हैं। संसार में देखा भी यही जाता है। विष का अर्थ तो स्पष्ट है, वारुणि का अर्थ होता है शराब। यदि किसी के पास धन आ गया, तो--

धन मद मत्त परम बाचाला।
उग्र बुद्धि उर दंभ बिसाला।। ७/९६/३

श्री मद बक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि। ७/७० ख

--वह मद से मतवाला और बहुत ही बकवादी हो जाता है। उसकी बुद्धि उग्र हो जाती है तथा उसके हृदय में बड़ा भारी दम्भ हो जाता है। भला लक्ष्मी का मद किसको टेढ़ा नहीं बना देता और प्रभुता किसे बहरा नहीं कर देती? फिर, विष का स्वभाव है मारना। जब व्यक्ति उन्मत्त होगा, तब चाहे शराब पी-पीकर अपने को मार डाले अथवा अभिमान-अहंकार से मतवाला हो अपना सर्वनाश कर ले। तो क्या लक्ष्मीजी का परित्याग कर दिया जाय? नहीं, एक उपाय करो। स्त्रियाँ अपने भाई-बहन से कब तक प्रेम करती हैं? --जब तक उनका विवाह नहीं हो जाता। विवाह से पूर्व ही वे अपने भाई-बहनों के साथ रहती हैं और विवाह हो जाने पर भाई-बहनों को छोड़ पति के साथ रहने चली जाती हैं। तो, जिसके जीवन में नारायण से विवाहिता लक्ष्मी होंगी, वे विष और वारुणि को छोड़कर रहेंगी। और जहाँ केवल लक्ष्मी होंगी, वहाँ उनके ये दो भाई-बहन भी अवश्य रहेंगे। नारायण ही ऐसे हैं, जिनके चरणों में लक्ष्मी अचंचला हो जाती हैं। लक्ष्मीजी ने चंचला होकर मानो

सारे संसार को यह बता दिया कि देखो, इस चंचलता को मात्र मेरी कमी के रूप में मत देखना, यह तो मैं तुम्हें भगवान् की ओर जाने का सन्देश दे रही हूँ। यदि मुझे बुलाओगे, तो मैं कभी भी तुम्हें छोड़कर चली जा सकती हूँ। केवल नारायण ही ऐसे हैं, जिनके चरणों को छोड़कर मैं कभी जाती नहीं। यदि मुझे बुलाओगे, तो विष और वारुणि को साथ लेकर आऊँगी, आते तुम्हें दुःख और कष्ट दूँगी और जाते रुलाती जाऊँगी। अगर मेरा वास्तविक लाभ लेना चाहते हो, तो भगवान् नारायण के साथ मुझे बुलाओ।

लेकिन नारद यह सब नहीं देख सके। उनकी आँखें तो आज बदली हुई हैं। वे अहंकार की दृष्टि से श्री लक्ष्मीनारायण की ओर देखते हैं। कहाँ मैं, जिसके सामने हजार हजार सुन्दरियाँ आयीं, पर मैंने तनिक भी उस ओर दृष्टि नहीं डाली, और कहाँ ये महोदय शय्या पर सो रहे हैं! कहाँ मैं समाधि में बैठनेवाला और कहाँ ये सोनेवाले! कहाँ मैं ब्रह्मचारी और कहाँ ये पत्नी से पैर दबवानेवाले! भगवान् ने नारद के अन्तर्मन को पहचान लिया। वे तुरन्त उठकर बैठ गये। बैठे ही नहीं रहे, खड़े भी हो गये और 'हरषि मिले'--गले से लिपट गये--

हरषि मिले उठि रमा निकेता।
बैठे आसन रिषिहि समेता ।।१/१२७/५

--कहा, आइए, नारदजी, आइए, यहाँ पर बैठिए। नारद कभी भी प्रभु के साथ बराबरी से नहीं बैठते थे,

पर आज तो भगवान् उन्हें छोटे लग रहे हैं, इसलिए वे उनके साथ ही बैठे। और तब नारदजी ने काम-विजय का सारा समाचार कह सुनाया। सुनकर भगवान् बोले--

ब्रह्मचरज ब्रत रत मतिधीरा।
तुम्ह ह कि करइ मनोभव पीरा ॥ १/१२८/२

--'आप तो ब्रह्मचर्य-व्रत में तत्पर और बड़े धीर-बुद्धि हैं। भला कहीं आपको भी कामदेव सता सकता है ?' साथ ही भगवान् ने एक बात और कह दी--

रूख बदन करि बचन मृदु बोले श्रीभगवान्।
तुम्हरे सुमिरन तें मिटहिं मोह मार मद मान ॥ १/१२८

--हे मुनिराज! आप तो उन महापुरुषों में हैं, जिनका स्मरण करने मात्र से मोह छूट जाता है। मानो भगवान् व्यंग्य करते हैं कि देखिए, आप आये तो हमारी भी नींद खुल गयी और हम उठकर बैठ गये तथा विषय से दूर हो गये। आपकी इतनी बड़ी कृपा न होती, तो मेरे जीवन में इतना बड़ा परिवर्तन कैसे आता ?

इस विवेचन का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य ने नारद के मन में अहंकार और धृष्टता को जन्म दे दिया तथा परशुराम के जीवन में रूक्षता और शुष्कता को। परशुराम को यह कहने में संकोच नहीं होता कि--

बाल ब्रह्मचारी अति कोही।
बिस्व बिदित छत्रिय कुल द्रोही ॥ १/२७१/६
गर्भ स्रवहिं अवनिप रवनि सुनि कुठार गति घोर। १/२७९

--'मैं बालब्रह्मचारी और अत्यन्त क्रोधी हूँ।

क्षत्रियकुल का शत्रु तो विश्व भर में विख्यात हूँ। मेरे कुठार की घोर करनी सुनकर राजाओं की स्त्रियों के गर्भ गिर पड़ते हैं!' तो, ब्रह्मचारीजी के जीवन में कितनी निष्ठुरता आ गयी! यदि किसी के स्मरण से दूसरों के बच्चे नष्ट हो जाते हों, तो वह कोई गर्व की बात नहीं है। अतः देखना यह है कि जो संयम, जो ब्रह्मचर्य किसी को कामजयी बनाता है, वह उसे अहंकारी न बना दे, किसी दूसरी दिशा में अस्वस्थ न कर दे। यदि यह सजगता न बरती गयी, तो ब्रह्मचर्य विपरीत प्रतिक्रिया उत्पन्न करेगा--या तो नारदवाली या फिर परशुरामवाली। और ये दोनों प्रतिक्रियाएँ समाज के लिए घातक हैं। दूसरी ओर हैं हनुमान्‌जी। वे भी ब्रह्मचारी हैं, पर समूची रामायण में किसी ने उन्हें ब्रह्मचारी नहीं कहा। क्यों? इसलिए कि उन्हें अपने ब्रह्मचारी होने का भान नहीं है। वास्तव में सच्चा ब्रह्मचारी वही है, जिसे अपने ब्रह्मचारी होने का भान न हो। हनुमान्‌जी में ऐसा ही सहज ब्रह्मचर्य है। इसे यों समझें। आपके घर में एक तीन बरस का बच्चा है। उसे क्या कभी आप ऐसा कहकर पुकारते हैं--आइए, ब्रह्मचारीजी, आइए? क्या उस बच्चे को कभी इस बात का गर्व होता है कि वह ब्रह्मचारी है? हनुमान्‌जी के जीवन में भी ठीक यही बात दिखायी देती है। वे हमेशा अपने को शिशु के समान देखते हैं, अपने को नन्हा बालक ही समझते हैं। नन्हे बालक का ब्रह्मचर्य स्वाभाविक होता है,

प्रयासजन्य नहीं। हनुमान्‌जी के शिशुत्व में यह विलक्षणता है कि वे शिशु होने के साथ साथ सरस भी हैं। भगवान् राम उनके द्वारा सीताजी के लिए ऐसा सन्देशा भेजते हैं कि उनकी जगह और कोई होता, तो उसको श्री राम के प्रति अश्रद्धा हो जाती। पर हनुमान्‌जी तो 'रामकाज' को ही अपने जीवन का व्रत बना लेते हैं और जब सीताजी को वे प्रभु का सन्देश सुनाते हैं, तब उनके नेत्रों में आँसू उमड़ आते हैं। बालब्रह्मचारी हनुमान् सीताजी से कहते हैं——

रघुपति कर संदेसु अब सुनु जननी धरि धीर।
अस कहि कपि गदगद भयउ भरे बिलोचन नीर॥ ५/१४

कहेउ राम बियोग तव सीता।
मो कहुँ सकल भए बिपरीता॥ १
नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू।
कालनिसा सम निसि ससि भानू॥ २
कुबलय बिपिन कुंत बन सरिसा।
बारिद तपत तेल जनु बरिसा॥ ३
जे हित रहे करत तेइ पीरा।
उरग स्वास सम त्रिबिध समीरा॥ ४
कहेहू तें कछु दुख घटि होई।
काहि कहौं यह जान न कोई॥ ५
तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा।
जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥ ६
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं।
जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥ ७

——'हे माता! अब धीरज धरकर श्रीरघुनाथजी

का सन्देश सुनिए। ऐसा कहकर हनुमान्‌जी प्रेम से गद्‌गद हो गये। उनके नेत्रों में (प्रेमाश्रुओं का) जल भर आया। (हनुमान्‌जी बोले--) श्री रामचन्द्रजी ने कहा है कि हे सीते! तुम्हारे वियोग में मेरे लिए सभी पदार्थ प्रतिकूल हो गये हैं। वृक्षों के नये नये कोमल पत्ते मानो अग्नि के समान, रात्रि कालरात्रि के समान, चन्द्रमा सूर्य के समान और कमलों के वन भालों के वन के समान हो गये हैं। मेघ मानो खौलता हुआ तेल बरसाते हैं। जो हित करनेवाले थे, वे ही अब पीड़ा देने लगे हैं। त्रिविध (शीतल, मन्द, सुगन्ध) वायु साँप के श्वास के समान (जहरीली और गरम) हो गयी है। मन का दुःख कह डालने से भी घट जाता है। पर कहूँ किससे? यह दुःख कोई जानता नहीं। हे प्रिये! मेरे और तुम्हारे प्रेम का तत्त्व (रहस्य) एक मेरा मन ही जानता है, और वह मन सदा तुम्हारे ही पास रहता है। बस, मेरे प्रेम का सार इतने में ही समझ लो।'

कैसा अनुपम सन्देश है! संसार के विरही, विषयी पुरुष अपनी प्रियतमा को जैसा सन्देशा दिया करते हैं, उसी से मिलता-जुलता यह सन्देश है, और इस सन्देश को सुनाने का भार पड़ता है एक बालब्रह्मचारी पर। पर यह बाल-ब्रह्मचारी भी कैसा अनोखा है! ब्रह्मचारी होत हुए भी शुष्क नहीं है, अपितु रस से भरा हुआ है। जानकीजी को सन्देश सुनाते हुए उसकी भावानुभूति छलक उठती है। यह सरसता हनुमान्‌जी के अन्तःकरण में

वासना के स्थान पर भावना की सृष्टि करती है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि काम का सदुपयोग होगा, तो उससे भावना की सृष्टि होगी, और यदि काम का दुरुपयोग होगा, तो उससे वासना उपजेगी। इस सन्दर्भ में गोस्वामीजी एक सांकेतिक प्रसंग की रचना करते हैं।

शंकरजी समाधि में बैठे हुए हैं और काम को उनके मन में क्षोभ उत्पन्न करने के लिए भेजा गया है। जब काम अपनी कला में असफल हो जाता है, तो एक अन्तिम उपाय के रूप में वह पास के आम्रवृक्ष पर बैठ जाता है और शंकरजी के हृदय पर बाण का प्रयोग करता है। उससे 'भयउ ईस मन छोभु बिसेषी' (१/८६/४)——शिवजी के मन में बहुत क्षोभ होता है और उनकी समाधि टूट जाती है। जब वे मन की इस अशान्ति के कारण को सजग होकर ढूँढ़ते हैं, तो 'सौरभ पल्लव मदनु बिलोका' (१/८६/५)——आम के पत्तों में छिपे हुए कामदेव को देख लेते हैं। यहाँ पर आज काम पत्तों की आड़ में छिपा बैठा है, तो उधर अशोकवाटिका में हनुमान्जी भी, ब्रह्मचारीजो भी पत्तों की आड़ में छिपे बैठे हुए थे——

> तरु पल्लव महुँ रहा लुकाई।
> करइ बिचार करौं का भाई॥ ५/८/२

फिर, हनुमान्जी तो शंकरावतार भी हैं। वे पत्ते की आड़ में बैठकर क्या करते हैं?——'करइ विचार', वे विचार करते हैं। कामदेव पत्तों की आड़ में बैठ यह विचार करता है कि वह विचारक का विचार, विवेकी का विवेक

कैसे नष्ट करे, और हनुमान्‌जी पत्तों की आड़ में बैठ यह विचार करते हैं कि प्रभु का सन्देशा कैसे सुनाया जाय। वहाँ वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे भगवान् शंकर और यहाँ वृक्ष के नीचे बैठी हुई हैं आद्याशक्ति सीता। वहाँ शंकर-जी पर कामदेव ने बाण का प्रहार किया और यहाँ सीताजी पर हनुमान् ने रामकथामृत की वर्षा की--

रामचंद्र गुन बरनैं लागा।
सुनतहि सीता कर दुख भागा॥ ५/१२/५

वहाँ शंकरजी के मन में क्षोभ उत्पन्न किया गया और यहाँ सीताजी के अन्तःकरण की पीड़ा खींच ली गयी।

और कैसी विलक्षण बात है! हनुमान्‌जी कथा तो सुनाते हैं, पर स्वयं दिखायी नहीं देते। सच्चा कथा-वाचक वही है, जो हनुमान्‌जी की तरह अपने को अप्रकट रखकर कथा सुना देता है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि वक्ता अपना अहंकार या संस्कार प्रकट करेगा, तो वह सही अर्थों में भगवान् की कथा नहीं सुना पाएगा। भगवान् की कथा की सार्थकता तभी है, जब वह वक्ता के व्यक्तित्व को समाप्त कर दे और भगवान् के गुणों को उसके जीवन में प्रतिष्ठित कर दे। यही हनुमान्‌जी के व्यक्तित्व का सच्चा रूप है।

जब सीताजी ने रामकथा सुन ली, पर कथावाचक नहीं दिखायी पड़ा, तो उन्होंने कहा--

श्रवनामृत जेहिं कथा सुहाई।
कही सो प्रगट होति किन भाई॥ ५/१२/७

—'जिसने कानों के लिए अमृतरूप यह कथा कही, वह हे भाई ! प्रकट क्यों नहीं होता ?' तब हनुमान्‌जी ने क्या किया ? जब हनुमान्‌जी प्रभु से पहली बार मिले थे, तो ब्राह्मण बनकर मिले थे। वे भरतजी के सामने भी ब्राह्मण बनकर जाते हैं। पर सीताजी के सामने कोई वेश नहीं धरते; वे जैसे हैं, उसी वानररूप में सीताजी के सामने कूद पड़ते हैं—

तब हनुमंत निकट चलि गयऊ।
फिरि बैठीं मन बिसमय भयऊ॥ ५/१२/८

—और जब हनुमान्‌जी उनके पास जाते हैं, तो उन्हें देखकर सीताजी मुँह फेर लेती हैं, पर इससे हनुमान्‌जी के मन में कोई दुःख की अनुभूति नहीं होती, वहाँ तो एक दिव्य भाव और रस भरा हुआ है। वे मन ही मन में सीताजी को प्रणाम करते हुए मानो कहते हैं कि माँ, बस कथा ही सुन्दर है, कथावाचक तो किसी काम का नहीं, वह तो देखने योग्य भी नहीं है। आपने यह बिलकुल ठीक ही किया। सुनने योग्य तो केवल प्रभु के गुण हैं। जिस जीव के माध्यम से वह कथा प्रकट हो रही है, वह तो दया का ही पात्र है। उसका भला क्या मूल्य, उसकी अपने आप में क्या सार्थकता ?

इधर शंकरजी के प्रसंग में, जब काम के बाण से विक्षुब्ध हो शंकरजी ने नेत्र खोले और विक्षोभ के कारण को ढूँढ़ते हुए उन्होंने आम्रपर्णों में छिपे कामदेव को देखा, तो उनकी आँखों में क्रोध की लाली आ गयी।

यह देख देवतागण घबड़ा गये। 'कुमारसम्भव' में आता है कि देवता आकाश से चिल्ला उठे, "क्रोधं प्रभु संहर संहरेति"--महाराज! शान्त! शान्त!! देवता मानो यह संकेत दे रहे थे कि यदि काम को जीतने के लिए आप क्रोध का सहारा ले लें, तो आपकी विजय अधूरी रह जायगी। पर शंकरजी झूठी स्तुतिवालों के चक्कर में नहीं पड़े। उन्होंने देवताओं की पुकार पर ध्यान नहीं दिया और अपना तीसरा नेत्र खोलकर कामदेव की ओर देखा--

तब सिवँ तीसर नयन उघारा।
चितवत कामु भयउ जरि छारा॥ १/८६/६

--बस, त्योंही काम जलकर भस्म हो गया। काम को देवताओं ने शंकरजी के मन में क्षोभ उत्पन्न करने भेजा था, पर उसने शंकरजी पर प्रहार करने से पूर्व सारे संसार को अपने वश में कर लिया। मानो कामदेव ने सोचा कि शंकरजी के पास जाकर जब मरना ही है, तो क्यों न चलते-चलाते विश्व के लोगों को अपना प्रभाव दिखाता चलूँ। यह मानो शक्ति का आवश्यकता से अधिक प्रयोग है। उस डाक्टर को आप क्या कहिएगा, जो हाथ में छुरी ले जितना काटना आवश्यक है उतना काटकर यह सोचे कि अब जरा छुरी को और भी चला दिया जाय? शंकरजी की विशेषता यह है कि वे जितना नष्ट करना चाहते हैं, उतना ही करते हैं। वे काम को तो जलाते हैं पर वे इतने सजग हैं कि जिस आम्रवृक्ष पर काम बैठा था, उसका एक पत्ता तक जल नहीं पाता।

आपको सम्भवतः यह विदित होगा कि काम की गाथाओं में आम का बड़ा महत्त्व है। आम्रवृक्ष को काम का आश्रय माना गया है। दूसरी ओर, भगवान् श्री राम की गाथाओं में भी आम के वृक्ष को बहुत महत्त्व दिया गया है। यदि आपने 'मानस' में काकभुशुण्डिजी का प्रसंग पढ़ा होगा, तो आप जानते होंगे कि उन्होंने सुमेरु के चार शिखरों पर जो एक एक वृक्ष लगाया था, उनमें एक आम का वृक्ष था। वे चारों वृक्ष के नीचे अलग अलग प्रकार के काम करते थे। पीपल के नीचे वे ध्यान करते थे पाकर के नीचे जपयज्ञ, बरगद के नीचे श्रीहरि की कथाओं का प्रसंग करते थे और आम के नीचे मानसिक पूजा करते थे।

पीपर तरु तर ध्यान सो धरई।
जाप जग्य पाकरि तर करई॥ ७/६५/५
बर तर कह हरि कथा प्रसंगा। ७/५६/७
आँब छाँह कर मानस पूजा॥ ७/५६/६

इसका अर्थ क्या ? यही कि आम काम की ओर भी ले जाता है और राम की ओर भी। चाहे काम हो या राम, दोनों जगह सम्बन्ध तो मन का ही है। मानसिक पूजा भी तो आखिर मन को रससिक्त करने का ही उपाय है। यहाँ संकेत यह है कि काम आम के ऊपर बैठता है और भक्त आम के नीचे बैठकर मानसपूजा करता है। जो नीचे बैठता है, वह नम्र है, निरहंकारी है। भगवान् शंकर आम्रवृक्ष की रक्षा कर यह संकेत देते हैं कि हमारा अन्तःकरण ही मानो आम का वृक्ष है, जिसका सदुपयोग

किया जाना चाहिए। आम्रवृक्ष रसालता का प्रतीक है, इसीलिए आम का एक नाम रसाल भी है। जैसे पके हुए आम-फल का रस लेने में आनन्द आता है, उसी प्रकार अन्तःकरण भी भगवान् के ध्यान में रससिक्त हो जब आनन्द देने लगे, तब समझना चाहिए कि मानसपूजा ठीक ठीक हो रही है। किन्तु जब मन को बलात् रोककर ध्यान करने की चष्टा की जाती है, तो लगता है कि ध्यान आम्रवृक्ष के नीचे नहीं, किसी सूखे पेड़ के नीचे बैठकर किया जा रहा है। इस विवेचन का तात्पर्य यही है कि रसमयता जसे काम की ओर ले जाती है, वैसे ही राम की ओर भी। यदि अन्तःकरण में रसमयता न हो, तो ऐसा ब्रह्मचारी और साधक परशुराम के समान शुष्क और असहिष्णु हो जाता है। अतः साधक के लिए रसमयता आवश्यक है। पर इसका क्या उपाय है कि रसमयता काम की ओर न ले जा, राम की ओर ले जाय ? यदि साधक आम के ऊपर बैठेगा, तो काम की ओर जायगा और यदि आम के नीचे बैठेगा, तो राम की ओर। अर्थात्, यदि साधक नारद के समान अहंकार पाल लेगा, तो काम का शिकार होगा और कभी न कभी उसे हँसी का पात्र बनना पड़ेगा। पर यदि वह हनुमान्‌जी के समान विनयी और निरहंकारी होगा, तो उसका मिलन राम से होगा। हनुमान्‌जी भी कठोर ब्रह्मचारी हैं, पर न तो वे परशुराम के समान शुष्क और नीरस हैं, न नारद के समान अहं-कारी। उनका अन्तःकरण राम-प्रीतिरस से ओत-प्रोत है।

उनका ब्रह्मचर्य शिशु के ब्रह्मचर्य के समान सहज है। हम पहले कह ही चुके हैं कि उन्हें अपने ब्रह्मचारी होने का भान नहीं है, क्योंकि हनुमान्‌जी सदैव अपने को एक नन्हे बालक ही मानते रहे हैं। अशोकवाटिका में जब सीताजी ने रामकथा सुनानेवाले का परिचय पूछा, तो हनुमान्‌जी अपना परिचय पवन या अंजनी के पुत्र के रूप में नहीं देते, यही कहते हैं--"राम दूत मैं"। जब जानकीजी ने कहा कि यह तो जान लिया कि तुम रामदूत हो, पर तुम्हारा और परिचय क्या है? इस पर हनुमान्‌जी बोले--"मातु जानकी" (५/१२/६)--मेरी माता जानकी हैं! यह एक अनोखा परिचय है। इसे यों कह लीजिए कि पुत्र ने माँ को पहले पहचाना। हनुमान्‌जी की बुद्धि कितनी सूक्ष्म है! वे विचार करते हैं कि यदि मैं अपना परिचय अंजनी के पुत्र के रूप में दे दूँ, तो फिर श्री सीताजी से यह माँग करने का मुझे कोई अधिकार नहीं कि आप मुझे पुत्र मानिए। इसीलिए जानकीजी द्वारा परिचय पूछे जाने पर वे उत्तर देते हैं कि मैं आपका बेटा हूँ। उनका तात्पर्य यह है कि मैं बिना माँ का हूँ, इसीलिए अपनी वास्तविक माँ का पता लगाने आपके पास आया हूँ। तभी तो गोस्वामीजी संकेत करते हैं कि जब तक माँ ने हनुमान्‌जी को 'पुत्र' कहकर नहीं पुकारा, उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। और ज्योंही माँ ने उन्हें एक बार 'पुत्र' कहा कि उनका मानो पुनर्जन्म हो गया। लोकदृष्टि से हनुमान्‌जी का जो भी परिचय रहा हो, पर उनका एक

नया जन्म उस क्षण होता है, जब जानकीजी उन्हें 'पुत्र' कहकर पुकारती हैं। जैसे शरीर पंचतत्त्वों से बना होता है, वैसे ही अभी जो हनुमान्‌जी का पुनर्जन्म हुआ, उनका यह नया शरीर भी पाँच गुणों से निर्मित होता है। श्री जानकीजी उन्हें आशीर्वाद देती हुई कहती हैं--

होहु तात बल सील निधाना। ५।१६।२

अजर अमर गुननिधि सुत होहू। ५।१६।३

--बेटे! तुम बल और शील के निधान होओ, अजर, अमर और गुणनिधि होओ। तो, बल, शील, अजर, अमर और गुणनिधि ये वे पाँच गुण या तत्त्व थे, जिनसे हनुमान्‌जी का नया शरीर बनता है। हनुमान्‌जी के ये पाँच गुण पाँचों तत्त्वों से सम्बद्ध भी हैं। और जब माता जानकी ने इन पाँच तत्त्वों के योग से जन्म लिये नये बालक को देखा, तो हनुमानजी के मुख पर उन्हें कोई भाव या प्रसन्नता की रेखा नहीं दिखी। माँ सोचने लगीं कि नये हनुमान् का निर्माण तो हुआ, पर इसमें चेतना क्यों नहीं आयी? तब उन्हें स्मरण हुआ कि पंचतत्त्वों का शरीर तो बन गया, पर उसमें प्राण-सचार तो हुआ ही नहीं है। तब माँ ने छठा आशीर्वाद देकर हनुमानजी के नवनिर्मित शरीर में प्राण का संचार कर दिया। वे बोलीं--

अजर अमर गुननिधि सुत होहू।

करहुँ बहुत रघुनायक छोहू ।। ५।१६।३

--'श्री रघुनाथजी तुम पर बहुत कृपा करें।' बस, इतना सुनना था कि हनुमान्‌जी के नवनिर्मित शरीर में

प्रेम के प्राण आ गये--

करहुँ कृपा प्रभु अस सुनि काना।
निर्भर प्रेम मगन हनुमाना ।। ५।१६।४

इस प्रकार हनुमान्‌जी का नया जन्म होता है और वे शिशु के शिशु ही बने रहते हैं, वे बड़े नहीं होते। इसीलिए न तो किसी ने कभी हनुमान्‌जी से विवाह का प्रस्ताव किया और न उन्होंने ही कभी विवाह करने की चेष्टा की। वे निरन्तर शिशु-वृत्ति में रहे। उनका तर्क यह था कि व्यक्ति वयस्क होने पर ही तो विवाह करता है, पर मैं तो पाँच बरस का हूँ। उनका अपना एक अलग गणित था। वे शंकरावतार जो थे ! आपने ब्रह्माजी की घड़ी के सम्बन्ध में पढ़ा होगा। बताया जाता है कि जब चारों युग एक हजार बार व्यतीत होते हैं, तब ब्रह्मा का एक दिन होता है और ब्रह्मा इस तरह सौ वर्ष तक अपने पद पर रहते हैं। जब ब्रह्मा महोदय के ये सौ वर्ष बीतते हैं, तब शंकरजी का एक पल होता है। यह बड़ा विलक्षण गणित है। अब हनुमानजी कब और कैसे बड़े होंगे और कितना बड़ा होने पर विवाह करेंगे ! इसीलिए हनुमान्‌जी को पाँच वर्ष के शिशु के समान अपने ब्रह्मचर्य का भान नहीं है। वे अपने को निरन्तर प्रभु का शिशु मान सहज भाव से ब्रह्मचर्य मे स्थित हैं। ऐसा ब्रह्मचर्य निर्दोष है। जब काम की उत्पत्ति ही नहीं हुई तब काम पर विजय का प्रश्न ही नहीं उठता। जब ब्रह्मचर्य इन भावनाओं से हट जाता है, तब वह काम को जन्म देता है और साथ ही

अपनी भी एक समस्या उत्पन्न करता है। जैसे, किसी व्यक्ति को क्रोध आ जाय, तो उसे शान्त करने के लिए क्षमा और कृपा का आश्रय लिया जाना चाहिए। अब यह ठीक है कि क्षमा और कृपा का आश्रय लेने से क्रोध दूर हो जाएगा, पर क्या क्षमा और कृपा अपने आप में समस्या नहीं उत्पन्न करतीं? करती हैं। अर्जुन के जीवन में कृपा ही तो आयी थी—वह 'कृपयाविष्ट' (गीता, २/१) हो गया था और भगवान् कृष्ण से कहने लगा था कि मैं युद्ध नहीं करूँगा। पर अर्जुन जिसे कृपा समझता था, भगवान् उसका नाम 'क्लैब्य' देते हैं और अर्जुन से कहते हैं—'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ' (गीता, २/३)—हे पार्थ, क्लीब न बनो। क्लैब्य का अर्थ होता है क्लीबता, नपुंसकता। अर्जुन कहता है कि शत्रुपक्ष के इन लोगों को देखकर मेरे मन में कृपा आ रही है। भगवान् कहते हैं कि भाई, यदि तुम्हारे मन में कृपा आती, तो कोई बात नहीं थी, पर यह तो क्लीबता है। इसका परित्याग करो। इसका अभिप्राय क्या? युद्ध पुरुष है और कृपा स्त्री। युद्ध में संघर्ष है और कृपा में शान्ति। तो, पुरुष की भी सार्थकता है और स्त्री की भी। पर क्लैब्य की क्या सार्थकता हो सकती है? वह न तो युद्ध है, न शान्ति। जैसे क्लीब को देखें। आकृति तो उसकी पुरुष-जैसी है, पर उसमें पौरुष नहीं। उसके हाव-भाव तो स्त्रियों जैसे हैं, पर वह स्त्री भी नहीं। तात्पर्य यह कि क्लीब का पुरुष होना भी नकली और उसका स्त्री होना भी नकली।

वैसे ही अर्जुन की कृपा को भगवान् नकली मानते हैं। और वे व्यंग्य करते हैं कि तू जा मध्य में खड़ा होना चाहता था, वह क्या इसी क्लीबता को प्रदर्शित करने के लिए ? एक क्लीब भी तो पौरुष और नारीत्व के बीच खड़ा रहता है। मध्य का तात्पर्य तटस्थता होना चाहिए या कि क्लीबता ? तू तो, अर्जुन, क्लीबता का मध्य चुन रहा है, तटस्थता का नहीं। तो, यहाँ पर भगवान् कृष्ण का अभिप्राय यह है कि क्रोध के स्थान पर कृपा तो आयी, पर काम नहीं बना—कृपा की आड़ में अन्तःकरण में क्लैब्य आ गया।

'रामचरितमानस' में भीय ही बात आती है। जब खर और दूषण चौदह हजार सेना ले भगवान् राम से लड़ने आये, तो श्री राम के सौन्दर्य को देखकर उनके मन में कृपा आ गयी—'थकित भई रजनीचर धारी' (३/१८/१)। खर दूषण ने मंत्री को बुलाकर कहा—इस राजकुमार को देखते ही हमारे हृदय में बड़ी करुणा का उदय हो गया है। भले ही इसने अपराध बहुत बड़ा किया है, पर हम क्षमादान करते हैं। जाओ, उससे सन्धि का प्रस्ताव करो। जब भगवान् राम ने खर-दूषण का सन्धि-प्रस्ताव सुना, तो हँसने लगे और दूतों से बोले—

रन चढ़ि करिअ कपट चतुराई।
रिपु पर कृपा परम कदराई॥ ३/१८/१३

—'रण में चढ़ आकर कपट-चतुराई करना और शत्रु पर कृपा करना तो बड़ी भारी कायरता है।' इसका

तात्पर्य क्या ? यही कि यदि अन्तःकरण में ठीक ठीक कृपावृत्ति आ गयी, तो शत्रु नहीं रहेगा । शत्रु दिखायी दे रहा हो और हम कह रहे हों कि हम कृपा कर रहे हैं, तो हम झूठ बोलते हैं। अन्तःकरण की प्रत्येक वृत्ति के उदय का एक माध्यम होता है । जैसे, चन्द्रमा को देखकर समुद्र में तरंगें उठती हैं, वैसे ही जहाँ पर दुर्बलता या अभाव दिखायी देता है, उसी के प्रति व्यक्ति के अन्तःकरण में कृपा का उदय होता है । सामर्थ्य को देखकर कृपा की स्फुरणा कभी नहीं होती, वहाँ या तो आदर होगा या सम्भ्रम या फिर भय । भगवान् राम का व्यंग्य यह था कि रे खर-दूषण ! यदि मेरा सौन्दर्य देख तुम लोग आकर्षित हुए होते, तो तुममें भक्ति आती और यदि मेरा बल देख आकृष्ट हुए होते, तो भय आता, पर यह कृपा की वृत्ति तुममें कहाँ से आ गयी ? यह कृपा नहीं, कायरता है । दूतो, जाकर अपने स्वामी से कह दो--

> जौं न होइ बल घर फिरि जाहू ।
> समर बिमुख मैं हतउँ न काहू ।। ३/१८/१२

--यदि बल न हो, तो घर लौट जाओ । मैं संग्राम में पीठ दिखानेवाले को नहीं मारता । पर यह जान लिये रहो कि--

> हम छत्री मृगया बन करहीं ।
> तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं ।।
> रिपु बलवंत देखि नहिं डरहीं ।
> एक बार कालहु सन लरहीं ।। ३/१८/९-१०

—हम क्षत्रिय हैं, वन में शिकार करते हैं और तुम्हारे जैसे दुष्ट पशुओं को तो ढूँढ़ते ही फिरते हैं। हम बलवान् शत्रु को देखकर नहीं डरते। एक बार तो हम काल से भी लड़ सकते हैं। इसलिए लड़ना हो तो लड़ो और कृपा का स्वाँग मत करो।

तात्पर्य यह है कि क्रोध को मिटाने के लिए जो लोग कृपा करते हैं, वे बहुधा कायर ही होते हैं, कृपालु बहुत कम। क्रोध में यदि असहिष्णुता है, तो कृपा में कायरता। यदि हम सचमुच में क्रोध को दूर करना चाहते हैं, तो कृपारूप दवा के साथ अनुपान भी लेना होगा, जिससे कृपा में तेजस्विता आए, वह कायरता का रूप न ले ले। इसी प्रकार लोभ है। शास्त्र कहते हैं कि लोभ को मिटाने के लिए दान दो। यह ठीक है कि दानस्वरूप दवा से लोभरूप रोग कम हो जायगा, पर दान के साथ यदि अनुपान न मिला हो, तो वह अहंकार की वृद्धि करेगा। यह दान की समस्या है। हम 'रामचरितमानस' में दक्ष प्रजापति की बात पढ़ते हैं। उसके सत्ताईस कन्याएँ थीं और अपनी सभी कन्याओं का उसने दान कर दिया। इससे उसकी बड़ी ख्याति हुई। वह था तो बुद्धिमान्। उसने बड़े बड़े लोगों को अपनी कन्या दान में दी थी। जब ब्रह्मा ने विचार किया कि प्रजापति का पद किसे दें, तो दक्ष का नाम ही सामने आने लगा और इस प्रकार उसे प्रजापति का पद मिल गया। ब्रह्माजी ने उसका सम्मान करने

के लिए उसे निमन्त्रित किया। जब वह ब्रह्माजी की सभा में पहुँचा, तो गोस्वामीजी लिखते हैं, सब लोग आदर प्रदर्शित करने के लिए खड़े हो गये। लेकिन दक्ष प्रसन्न नहीं हो पाया। उसने यह नहीं देखा कि कितने सारे लोग उसके सम्मान में खड़े हैं, उसकी आँखें तो यही देखती रहीं कि कहीं कोई बैठा तो नहीं रह गया है। और तब उसने देखा कि एक सज्जन बैठे ही रह गये हैं। वे थे शंकरजी। बस, दक्ष के मन की सारी प्रसन्नता काफूर हो गयी। दक्ष यदि सचमुच का बुद्धिमान् होता तो उसे देखकर प्रसन्न होना था कि शंकरजी बिलकुल हिले-डुले नहीं। शंकरजी कौन हैं ?--"भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ"--वे मूर्तिमान विश्वास है। और विश्वास का न हिलना, न डिगना, न उठना ही अच्छा है। भगवान् न करें कि किसी पर से विश्वास उठ जाय ! तो विश्वास अडिग बना रहा। इससे दक्ष का अहंकार भड़क गया। सोचने लगा जिन जिनको मैंने अपनी कन्या दान में दी, वे तो सब उठ खड़े हुए और यह शंकर मेरे दान का पात्र होकर भी खड़ा नहीं हुआ ! दान की यही समस्या है। जब किसी को दान दिया, तो उसे मेरा सम्मान करना चाहिए इस वृत्ति को दान जगा देता है। शास्त्र की मर्यादा तो यह कहती है कि कन्यादान करनेवाले व्यक्ति को दान लेनेवाले के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। जब वह कन्या का दान करता है, तो दान लेनेवाले के चरणों को पहले पखारता है और तब अपनी

कन्या सौंपता है। मानो वह व्यक्त करता है कि यह जो भार आप स्वीकार कर रहे हैं, उसके लिए अनुग्रहित हूँ। यदि दक्ष के मन में ऐसी वृत्ति आती, तो उसके जीवन में निरहंकारिता आती, पर वह तो चाहता है कि जो दान लेनेवाला है, वह सर्वदा मेरे सामने सिर झुकाये रहे। इससे दान की सार्थकता भला कैसे होगी? रहीम के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि जब वे देते थे, तो नेत्र नीचे कर लेते थे। किसी ने पूछा——रहीमजी, क्या बात है? देते समय तो लोगों की आँखें ऊँची रहती हैं और लेनेवाले की नीचे, पर आप हैं जो उल्टी बात करते हैं? रहीम उत्तर में बोले——

देने वाला देत है, भेजत है दिन रैन।
लोग भरम मोपे करैं, याते नीचे नैन॥

——है तो चीज किसी और की और लोग मुझे देनेवाला मान रहे हैं। दूसरे की दी हुई वस्तु को देकर मैं दानी कहाये जा रहा हूँ, इसीलिए मैं संकोच से गड़ जाता हूँ।

अतः, यह ठीक है कि हम लोभ का रोग दूर करने हेतु दान की दवा करते हैं पर हमें सावधान रहना चाहिए कि दान म कर्तृत्व न आने पाए, उसकी जगह आए निमित्तता का भाव कि मैं तो मात्र निमित्त हूँ। तभी हमारा कल्याण होगा, अन्यथा दान में कर्तृत्व का भाव हमें पतन की ओर ले जायगा। ठीक यही नियम हित पर लागू होता है। हित है तो दवा, पर यदि उसके साथ मनुष्य के अन्तःकरण में आसक्ति की वृत्ति आ जाय, तो व्यक्ति न तो अपना हित कर पाएगा और न उसका, जिसका कि हित वह चाहता है। यही समस्या विभीषण

के पूर्व जन्म में थी, जब वे धर्मरुचि थे, और वह उनके इस जन्म में भी बनी हुई है। अधिकांश हित करनेवालों की यह समस्या होती है कि या तो वे जानते ही नहीं कि हित क्या होता है, या फिर वे कपटमुनि की भाँति हित करनेवाले होते हैं। प्रतापभानु ने कपटमुनि से कहा था--"तुम्ह तजि दीनदयाल निज हितू न देखउँ कोउ" (१/१६६)--आपसे बढ़कर और किसी को मैं अपना हितैषी नहीं देखता ! और कैसा बढ़िया हित कपटमुनि ने प्रतापभानु का किया ! कोई किसी का बोझ हलका कर दे, तो वह प्रसन्न होता है। पर यदि कोई उसकी जेब हल्की कर दे, तो क्या वह यह सोचकर प्रसन्न होगा कि चलो, मैं बोझ से मुक्त हुआ ? ऐसा व्यक्ति तो कपट-मुनि-जैसा ही हितैषी है, जो हित की आड़ में स्वत्व का अपहरण कर लेता है। दूसरे प्रकार का हितैषी मन्थरा के समान होता है, जो यह नहीं जानता कि हित क्या होता है। मन्थरा कैकेयीजी का हित तो करने चली थी, पर उसे पता नहीं था कि वस्तुतः हित क्या होता है। कैकेयीजी मन्थरा से कह देती हैं--

> तोहि सम हित न मोर संसारा।
> बहे जात कइ भइसि अधारा ।। २/२२/२

--'संसार में मेरा तेरे समान हितकारी और कोई नहीं है। तुम मुझ बही जाती हुई के लिए सहारा हुई है।' तो क्या मन्थरा कैकेयीजी की हितैषी सिद्ध हुई ? वह तो ऐसा ही हुआ, जैसे नदी में डूबता हुआ व्यक्ति ऐसे

व्यक्ति का सहारा ले, जो स्वयं डूब रहा हो। वे दोनों एक दूसरे का क्या हित करेंगे! बल्कि डूबने में जो विलम्ब होता, वह और भी शीघ्र साधित हो जायगा। एक दूसरे का गला पकड़कर लटकेंगे तो जल्दी डूबेंगे!

तात्पर्य यह है कि हित है तो बढ़िया बात, पर अपने हित की भी ओर ध्यान रखते हुए हित करना उचित होगा। बहुधा व्यक्ति हित के नाम पर अपनी आसक्ति से बँधता है और दूसरे को भी बाँधता है। धर्मरुचि ने सुना था, पढ़ा था कि मंत्री को राजा का हित करना चाहिए, और यह भी कि हित एक बड़ा भारी धर्म है। पर वह यह नहीं जानता था कि हित कैसे किया जाता है। इसलिए जब प्रतापभानु राक्षस बना, तो उसका हित करने के लिए धर्मरुचि भी राक्षस बन जाता है और विभीषण के रूप में जन्म लेता है। जब बहुत दिन बीतने पर भी हित का यह चक्र टूटता नहीं दिखता, तो भगवान् एक कौतुक करते हैं वे उसी से उनको लात लगवा देते हैं, जिसका वे हित करना चाहते थे। तब कहीं विभीषण के मन का हितवाला संस्कार टूटता है। संस्कार टूटने से आसक्ति छूटती है। इसके पश्चात् भी विभीषणजी रावण का हित सोचते हैं, पर इस हित में कोई आसक्ति नहीं है। आसक्तिमूलक हितचिन्तन बन्धन का कारण होता है और आसक्तिरहित हितचिन्तन कल्याण का। विभीषण के जीवन में यह आसक्तिमुक्त हित की वृत्ति कैसे आयी, उसकी प्रक्रिया का चिन्तन अगले प्रवचनों में करेंगे।

●

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) भय ते भक्ति सबै करैं

एक बार ईसा कहीं जा रहे थे कि रास्ते में उन्हें तीन दुबले-पतले व्यक्ति दिखायी दिये। ईसा ने उनसे प्रश्न किया, "तुम्हारी यह हालत कैसे हो गयी ?" उन्होंनें उत्तर दिया, "आग के डर से।" ईसा बोले, "बड़े अचरज की बात है कि तुम प्रभु द्वारा उत्पन्न की गयी वस्तु से डरते हो। परमात्मा डरनेवालों को बचाता जरूर है, लेकिन डरना छोड़ दो और बेहिचक भगवद्-भजन करो।"

वे जब आगे बढ़े, तो उन्हें तीन व्यक्ति और दिखायी दिये, जो पहले मिले व्यक्तियों से भी अधिक दुबले थे और उनके चेहरे पीले पड़ गये थे। ईसा ने उनसे भी उनकी दशा का कारण पूछा। उन्होंने जवाब दिया "स्वर्ग की कामना के कारण।" ईसा बोले, "भगवान् का भजन-पूजन जारी रखो। वह तुम्हारी इच्छा जरूर पूरी करेगा, क्योंकि तुम उसके द्वारा निर्मित वस्तु की इच्छा कर रहे हो।"

आगे चलने पर उन्होंने तीन और दुर्बल व्यक्ति देखे, लेकिन उनके चेहरे उन्हें दीप्तिमान दिखायी दिय। ईसा ने पूछा, "तुम्हें किस बात का भय है, जो तुमने ऐसी हालत बना रखी है?" उन्होंने उत्तर दिया, "प्रभु के प्रति प्रेम के कारण।" ईसा बोले, "तुम उसके निकट हो, बहुत

निकट हो। ईश्वर तुम्हें अवश्य मिलेंगे। तुम भय करना छोड़ दो, क्योंकि जो भय की भावना से ईश्वर की भक्ति करता है, उसमें निराशा और असहायता के भाव उत्पन्न होते हैं। इससे भक्ति से विमुख हो जाने की आशंका है। इसलिए भय का त्याग करना ही उचित है।"

(२) ज्ञानी तो निडर भया

एक बार गुरु गोविन्दसिंहजी ने शिष्यों की परीक्षा लेनी चाही। उन्होंने तम्बू में पहले से पाँच बकरे बाँधकर रख दिये और उपस्थित सिक्ख समूह के सामने, जिनकी संख्या लगभग पाँच हजार थी, हाथ में नंगी तलवार लेकर आये और कहा, "क्या तुममें से कोई एक अपना सिर देने को तैयार है? हमें एक सिर की जरूरत है।" यह सुन सारे लोग स्तब्ध रह गये। गुरु ने फिर पूछा, "क्या कोई भी मुझे अपना सिर देने को तैयार नहीं?" इतने में एक सिक्ख सामने आया और बोला, "मेरा सिर हाजिर है।" गुरु उसे तम्बू के अन्दर ले गये और उसे एक ओर बिठाकर उन्होंने तलवार से एक बकरे का सिर काट डाला। फिर खून से सनी तलवार के साथ बाहर आये और उन्होंने जनसमूह से कहा, "खून की कमी है। क्या और कोई एक सिर दे सकता है?" एक दूसरा सिक्ख सामने आया। गुरु उसे भी अन्दर ले गये और उसे बिठा-कर उन्होंने दूसरे बकरे का सिर काटा और बाहर आकर एक और सिर की माँग की। इस तरह कुल पांच सिक्ख अपना सिर देने को तैयार हुए। उन सबको अन्दर बिठा-

कर वे फिर बाहर आये और उन्होंने और सिर की माँग की, लेकिन अब सब डर गये थे और कोई भी मौत के मुँह में जाने को तैयार न था। तब वे बोले, "बड़े दुःख की बात है कि पाँच हजार में से केवल पाँच ही निकले, जिन्होंने गुरु की खातिर अपना सिर देने की पेशकश की।"

फिर वे अन्दर गये और उन पाँचों सिक्खों को बाहर लाकर उन्होंने सबसे कहा, "मैं तुम लोगों की परीक्षा ले रहा था कि कौन गुरु के लिए अपनी जान की परवाह नहीं करता। केवल ये पाँच सिक्ख इस परीक्षा में खरे उतरे, इसलिए आज से ये 'पंच प्यारे' कहलाएँगे।" आज भी सिक्ख सम्प्रदाय में 'पच प्यारे' की बड़ी महिमा है।

(३) सो 'है' कहो तो है नहीं 'नाही' कहो तो है

एक बार प्रवचन के बाद बुद्धदेव से एक व्यक्ति ने प्रश्न, किया "आप तो ईश्वर को मानते हैं, लेकिन मैं नास्तिक हूँ और ईश्वर को नहीं मानता। इस बारे में आपकी क्या राय है?"

बुद्ध बोले, "तुम गलत हो। संसार में ईश्वर के अलावा सत्य कुछ भी नहीं, इसलिए तुम्हें उस पर श्रद्धा करनी ही चाहिए।"

कुछ दिन बाद एक दूसरे व्यक्ति ने बुद्धदेव से प्रश्न किया, "प्रभो! लोग ईश्वर को नहीं मानते, लेकिन मेरी तो उन पर बड़ी श्रद्धा है। क्या मैं सही नहीं हूँ? आपका इस बारे में क्या दृष्टिकोण है?"

"आप गलत समझ रहे हैं। ईश्वर का अस्तित्व असत्य बात है, इसलिए उसे मानने का प्रश्न ही नहीं उठता।"

बुद्धदेव का प्रिय शिष्य आनन्द उक्त दोनों अवसरों पर उपस्थित था। वह सोचने लगा, "देव कभी तो कहते हैं कि ईश्वर के अलावा सत्य कुछ नहीं और कभी कहते हैं कि ईश्वर के अलावा असत्य कुछ नहीं। आज रात्रि को शंका का समाधान कर वास्तविकता का पता लगाना ही चाहिए।"

किन्तु इसी बीच एक अन्य शिष्य ने तथागत से पूछ लिया, "ईश्वर के अस्तित्व पर लोग विवाद करते हैं। आप ही बताइए कि ईश्वर है या नहीं।" बुद्धदेव ने प्रश्न को सुना-अनसुना कर जिस विषय पर बात कर रहे थे, उसी को जारी रखा। शिष्य थोड़ी देर तक उत्तर की प्रतीक्षा करता रहा, बाद में उठकर चला गया।

लेकिन यह प्रश्न तो आनन्द को चैन नहीं लेने दे रहा था। उसने पूछ ही लिया, "देव! कभी आप कहते हैं—'ईश्वर है' और कभी कहते हैं 'नहीं है' और अभी अभी इस बारे में जब एक शिष्य ने वास्तविकता जाननी चाही, तो आपने उत्तर ही नहीं दिया।"

तथागत बोले, "आनन्द! तूने इसे गम्भीरता से क्यों लिया? ये प्रश्न तेरे लिए तो थे नहीं। वास्तव में मैं उन लोगों की मान्यता और धारणा को तोड़ देना चाहता था। जो नास्तिक होता है, उसकी आत्मा परतंत्र हो जाती है। मैं उसकी इस मान्यता को दूर

करना चाहता था, इसलिए मैंने उससे कहा कि 'ईश्वर है', ताकि वह इस पर विचार करे और उसे ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास हो।

"दूसरे व्यक्ति की इस मान्यता को भी कि ईश्वर का अस्तित्व है, मैं दूर करना चाहता था। मैं चाहता था कि वह अपनी धारणा की जंजीरों से मुक्त हो और सत्य को जानने की स्वयं पहल करे।

"रहा तीसरा शिष्य; तो उसका स्वयं का कोई मत न था। मेरी इच्छा थी कि वह यह खोजने का प्रयास करे कि ईश्वर सचमुच है या नहीं। अलग अलग उत्तर देने का उद्देश्य यही था कि वे अपनी मान्यता और सिद्धान्तों में न बँधे रहें तथा उससे अलग होने का प्रयास करें।"

(४) तुम्हारी चाह में प्रभु मेरा कल्याण

समर्थ रामदास का अम्बादास नामक एक शिष्य था। उसकी भक्ति और सेवाभाव से रामदास उस पर प्रसन्न थे, किन्तु दूसरे शिष्यों को यह बात खलती थी। एक दिन मध्याह्न समय समर्थ ने उसे बुलाकर कहा, "जाओ सामने के बिल्ववृक्ष की शाखा पर बैठकर उस शाखा को आरी से काट लाओ।" शिष्यों ने सुना, तो उन्हें यह आदेश जरा विचित्र मालूम हुआ, क्योंकि वैसा करने से अम्बादास नीचे के कुएं में जा गिरता। उन्होंने उसे सलाह दी कि वह दूसरी शाखा पर बठकर उस शाखा को काट लाए। किन्तु अम्बादास बोला,

"मैं तो गुरुदेव की आज्ञा का पालन करूँगा।" और हुआ भी वैसा ही। ज्योंही शाखा कटने को आयी कि वह धड़ाम से कुएँ में जा गिरा।

कुएँ में गिरते ही अम्बादास ने आँखें बन्द कर लीं और वह प्रभु का स्मरण करने लगा। थोड़ी देर बाद जब उसने आँखें खोलीं, तो उसे जल तो कहीं नहीं दिखायी दिया, बल्कि साक्षात् रघुवंशशिरोमणि श्री रामचन्द्रजी को प्रसन्न मुद्रा में सामने खड़े पाया। उनके दर्शन से वह गद्‌गद हो गया और उसकी आँखें अश्रु-विह्वल हो गयीं। भक्तिभाव से उसने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया ही था कि ऊपर से आवाज सुनायी दी, "अम्बादास कैसे हो ?" बात यह थी कि अम्बादास के गिरने की आवाज सुन शिष्य गुरु को लेकर वहाँ पहुँच गये थे और सन्त ने आवाज लगायी थी।

गुरु की आवाज सुनते ही अम्बादास उठने लगा, लेकिन प्रभु अन्तर्धान हो गये थे। उसने वहीं से उत्तर दिया, "गुरुजी, आपकी कृपा से कल्याण है।" और वह ऊपर निकल आया। गुरुदेव उससे बोले, "सचमुच तू आज्ञाकारी शिष्य है। आज से तेरा नाम अम्बादास नहीं, 'कल्याण' हो गया !"

(५) खुदा की बस्ती दुकां नहीं है

सन्त इब्राहीम फकीर बनने के बाद शहर से दूर एक झोपड़ी बनाकर रहने लगे। लोग जब वहाँ से जाते, तो उनसे बस्ती का रास्ता पूछते। तब वे सामने के रास्ते

की ओर इशारा करते। जब कोई पूछता, "क्या यह दूसरा रास्ता बस्ती की ओर नहीं जाता?" तो वे कहते, "नहीं, यह नहीं जाता।" लेकिन वे लोग जब उनके बताये रास्ते से आगे बढ़ते, तो श्मशान में पहुँच जाते। आखिर लौटकर मन ही मन सन्त को कोसते हुए दूसरे रास्ते से आगे बढ़ जाते।

लेकिन एक दिन एक मुसाफिर को गुस्सा आ गया और उसने लौटकर सन्त को बुरा-भला कहना शुरू किया। तब इब्राहीम उससे शान्त भाव से बोले, "अरे भाई, मरघट क्या बस्ती नहीं है? तुम जिसे 'बस्ती' कहते हो, वहाँ रोज एक न एक मौत होती रहती है, तब वह घर क्या उजड़ नहीं जाता? उन उजड़े घरों से ही तो मरघट में बस्ती बन गयी है। लेकिन इस बस्ती में जो एक बार बस गया, वह हमेशा के लिए वहाँ बस जाता है। उसे वहाँ से हटने की जरूरत नहीं होती। इसलिए क्या यह बस्ती नहीं हुई? मैंने इसीलिए तुम्हें बस्ती का रास्ता बताया था, लेकिन तुम बुरा मान गये।" यह सुन मुसाफिर चुप हो गया और बिना कुछ बोले वह दूसरे रास्ते से आगे बढ़ गया।

यज्ञार्थ कर्म का स्वरूप

(गीताध्याय ३, श्लोक ७-९)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

अर्जुन (हे अर्जुन) यः (जो) तु (किन्तु) इन्द्रीयाणि (इन्द्रियों को) मनसा (मन के द्वारा) नियम्य (संयत करके) असक्तः (अनासक्त हो) कर्मेन्द्रियैः (कर्मेन्द्रियों के द्वारा) कर्मयोगम् (कर्मयोग) आरभते (आरम्भ करता है) सः (वह) विशिष्यते (श्रेष्ठ है) ।

"किन्तु हे अर्जुन, जो चक्षु-कर्णादि ज्ञानेन्द्रियों को मन के द्वारा संयत करके अनासक्त भाव से कर्मेन्द्रियों के द्वारा कर्मयोग का अनुष्ठान करता है, वह श्रेष्ठ है।"

इसके पूर्व के श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने उस व्यक्ति को मिथ्याचारी कहा, जो अपनी कर्मेन्द्रियों को तो रोक लेता है, पर मन ही मन भोगों का चिन्तन करता रहता है। यह मिथ्याचार क्रमशः अनाचार को जन्म देता है, क्योंकि मन के द्वारा भोगों का चिन्तन करते रहने से एक दिन कर्मेन्द्रियों पर खड़ा किया गया बाँध टूट जायगा और व्यक्ति उस बाढ़ में डूबकर नाश को प्राप्त होगा। ऐसे नाश का विस्तार से वर्णन हम गीता-

ध्याय २ के ६२ वें और ६३ वें श्लोक की व्याख्या में कर चुके हैं। उन श्लोकों में यही बताया गया है कि विषयों का चिन्तन करते रहने से कैसे मनुष्य अपने विवेक को गँवा बैठता है और अन्त में विनाश को प्राप्त होता है। अतः अर्जुन के माध्यम से मानो भगवान् कृष्ण हम सबको सावधान कर देते हैं कि मिथ्याचार से बचो, प्रदर्शन को वृत्ति मन से निकाल दो। यह प्रदर्शन की वृत्ति हममें से प्रत्येक के अन्तर में मानो रूढ़ है। हम जो वास्तव में नहीं है, उसे प्रदर्शित करना चाहते हैं। श्रीरामकृष्णदेव ऐसे लोगों की तुलना बन्दरों से देते हैं, जो चुपचाप बैठें तो दिखायी दते हैं, पर जिनके मन में सतत यह विचार चल रहा है कि अब किसके बगीचे में, किसके खेत में कूदा जाय।

प्रस्तुत श्लोक 'तु' कहकर मिथ्याचारी से श्रेष्ठ व्यक्ति का अन्तर स्पष्ट किया गया। श्रेष्ठ व्यक्ति कैसा होता है वह आँख-कान-नाक आदि ज्ञानेन्द्रियों को मन के द्वारा नियंत्रित करता है और मन में कर्म या उसके फल के प्रति किसी प्रकार की असक्ति न रखते हुए कर्मन्द्रियों के द्वारा कर्मयोग का अनुष्ठान करता है। इस प्रकार श्रेष्ठ व्यक्ति में तीन विशेष बातें होती। हैं पहला तो यह है कि वह अपनी ज्ञानेन्द्रियों को अपने मन के वश में रखता है। उसका मन जिसे देखने की इच्छा करेगा, उसके चक्षु केवल उसी को देखेंगे। उसका मन जो सुनने की इच्छा करेगा, उसके कर्ण केवल वहीं सुनेंगे।

उसका मन इस प्रकार प्रशिक्षित हो जाता है कि उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ मन की अनुमति बिना कही नहीं जातीं। श्रेष्ठ व्यक्ति की दूसरी विशेषता यह है कि वह कर्म या कर्म के फल के प्रति अनासक्त होता है। न तो वह किसी विशेष कर्म की मांग करता है, न कर्म का फल अपने लिये चाहता है। उसे जो भी कर्म सहज रूप से प्राप्त होता है, उसे वह पूरी लगन के साथ करता है, पर न तो उस कर्म से चिपके रहना चाहता है, न उसके यश का भागी होना। उसकी तीसरी विशेषता यह है कि वह कर्मयोग करता है, आलसी नहीं होता। सामान्यत: जो कर्म या कर्मयोग के प्रति आसक्त नहीं होते, उनमे कर्मों के प्रति स्वाभाविक रूप से एक प्रकार की उदासीनता का भाव आ जाता है। पर यह व्यक्ति ऐसा है कि कर्म के प्रति अनासक्त होकर भी निष्ठापूर्वक कर्म करता है, उसमें कामचोरी का भाव नहीं होता। ऐसा व्यक्ति समाज में विशेष, श्रेष्ठ माना जाता है। अत: अर्जुन, तू भी अपना नियत कर्म कर, अकर्मण्य मत बन।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मण:
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मण: ॥८॥

त्वं (तू) नियतं (अपने लिए शास्त्रसम्मत) कर्म (कर्म कुरु (कर) हि (क्योंकि) अकर्मण: (अकर्म की अपेक्षा) कर्म (कर्म) ज्याय: (श्रेष्ठ है) अकर्मण: (अकर्म हो जाने से) ते (तेरी) शरीरयात्रा (शरीर की रक्षा) अपि (भी) च (और) न (नहीं) प्रसिद्धयेत् (सिद्ध होगी)।

"तू शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट कर्म कर, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। फिर कर्म न करने से तेरी शरीर-रक्षा भी तो नहीं होगी।"

अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा था कर्म श्रेष्ठ है या विचार? यदि विचार श्रेष्ठ हो, तो इस घोर कर्म में पड़ने की क्या आवश्यकता? उसने भगवान् से यह भी कहा था कि आप निश्चित करके बताइए कि दोनों में से मेरे लिए क्या करणीय है। तो यहाँ पर स्पष्ट उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं कि तू कर्म कर। कैसे कर्म कर? नियत कर्म कर। 'नियत' की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर अपने गीताभाष्य में लिखते हैं--'नित्यं यो यस्मिन् कर्मणि अधिकृतः फलाय च अश्रुतं तद् नियतम्' --अर्थात्, जो कर्म श्रुति के अनुसार कोई फल नहीं देता, ऐसे जिस कर्म का जो व्यक्ति अधिकारी है, उसके लिए वह नियत कर्म है। इसको नित्य कर्म भी कहा जाता है, जिसको करने से कोई फल नहीं मिलता, पर जिसको न करने से दोष होता है। ब्राह्मण के लिए नित्य कर्म है शम-दम तप और क्षत्रिय के लिए शौर्य, युद्ध से अपलायन, दान आदि। उसी प्रकार वैश्य के लिए ये कर्म हैं कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य और शूद्र के लिए परिचर्या आदि। हमारे देश में यह जो चार वर्णों में मनुष्यों को विभाजित किया गया, उसकी पृष्ठभूमि बड़ी वैज्ञानिक थी। तब मनुष्य के वर्ण का निर्धारण उसके जन्म के द्वारा नहीं होता था, अपितु उसके गुणों

और कर्मों के द्वारा। ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न बालक भी, अपने नीच वृत्तियों और हीन कर्मों के कारण, शूद्र बन सकता था और शूद्र कुलोत्पन्न बालक भी अपने उदात्त गुणों के बल पर ब्राह्मण के रूप में पूजित हो सकता था। पर आज तो वर्णों की वह वैज्ञानिक पृष्ठ-भूमि पूरी तरह नष्ट हो गयी है। वर्णों का आधार आज जन्म को माना जाता है इसीलिए आज वर्णव्यवस्था मृतप्राय है। इसका विशद विवेचन हम चौथे अध्याय के १३वें श्लोक की व्याख्या में करेंगे, जहाँ भगवान् कृष्ण ने कहा है--'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' --'मैंने गुण और कर्मों का विभाजन करते हुए चारों वर्णों को रचा है।' यह वर्ण-व्यवस्था पहले एक सामाजिक व्यवस्था थी, जो धीरे धीरे रूढ़ि का रूप धारण कर लेती है। वह मनुष्य की वृत्ति पर आधारित थी, और वृत्ति का आधार जन्म नहीं हुआ करता।

महाभारतकालीन समाज में वर्णव्यवस्था अधिक रूढ़िगत नहीं प्रतीत होती। तब समाज को 'कर्मणा वर्ण' का सिद्धान्त मान्य था। अर्जुन तो वैसे भी क्षत्रिय था। उसके लिए क्षत्रिय हेतु नियत कर्म करना ही उचित था। पर वह युद्ध से पलायन की सोचता है, भिक्षा के द्वारा जीवन-निर्वाह की कल्पना करता है। ऐसा करने से तो वह दोष का भागी होता। इसीलिए श्रीकृष्ण उसे नियत कर्म करने का आदेश देते हैं।

हमने 'नियत' का अर्थ ऊपर नित्य किया है। कर्म

के चार भेद किये गये हैं--(१) नित्य, (२) नैमित्तिक, (३) काम्य और (४) निषिद्ध। नित्य का अर्थ वही है, जो ऊपर बताया गया है, जिसका पालन कोई फल उत्पन्न नही करता, पर जिसका नहीं करना दोषावह होता है। नैमित्तिक वह है, जिसे किसी निमित्त से करते हैं। जैसे, व्रत, उपवास, गणेशपूजा, दुर्गापूजा आदि ये सब नैमित्तिक कर्म हैं, जो एक विशिष्ट निमित्त से किये जाते हैं। इनको नहीं करने से कोई दोष नहीं होता, पर इनको करने से लाभ होता है। काम्य वह है, जिसे किसी कामना की पूर्ति हेतु किया जाता है। निषिद्ध उसे कहते हैं, जिसे किसी भी दशा में नहीं करना चाहिए। तो, यहाँ पर जब भगवान् कृष्ण अर्जुन को नियत कर्म करने का आदेश देते हैं, तो उनका तात्पर्य यह है कि अर्जुन अपना स्वभावप्राप्त युद्धकर्म करे, काम्य कर्म न करे। काम्य कर्म बाँधता है। नित्य कर्म का अनुष्ठान वैसे तो कोई फल उत्पन्न नहीं करता, पर व्यक्ति को अपने धर्म में आरूढ़ रहने में प्रेरक और सहायक होता है। इसीलिए नित्य कर्म का अभाव व्यक्ति को धर्माचरण के क्षेत्र में शिथिल कर दे सकता है और इस प्रकार भंयकर दोष की उत्पत्ति का कारण बन सकता है।

कुछ टीकाकारों ने 'नियत' का अर्थ निरन्तर' किया है। वे कहते हैं कि निरन्तर कर्म करते रहना चाहिए। मनुष्य कभी चुपचाप न बैठे। एक दृष्टि से यह भी सही है। मनुष्य निठल्ला हो जाय, तो मस्तिष्क

में खुराफाती विचार आने लगते हैं। अँगरेजी में एक कहावत है—Empty mind is devil's workshop —'खाली दिमाग शैतान का कारखाना होता है'। खाली बैठने से बुद्धि अजीबोगरीब विचारों से भर जाती हैं। पर जो मनुष्य सतत कर्म करता रहता है, उसके पास व्यर्थ सोच-विचार करने के लिए समय नहीं होता। सामान्यतया देखा जाता है कि जिनके पास अवकाश की समस्या (problem of leisure) होती है, अर्थात् जिन्हें विशेष काम नहीं रहता, वे अधिकतर मानसिक तनावों से ग्रस्त होते हैं और अनिश्चयता के शिकार होते हैं।

वसिष्ठ गुफा में रहते समय स्वामी पुरुषोत्तमानन्दजी हम साधकों पर इस बात के लिए जोर डालते कि हम समय जाया न करें। या तो स्वाध्याय करें, परस्पर शास्त्र-चर्चा करें या फिर ध्यानाभ्यास और इतर साधनाएँ करें। वहाँ पर शारीरिक काम तो विशेष रहता नहीं था, इसलिए वे उक्त मानसिक कार्यों में हमें अधिकाधिक लगे रहने का निर्देश देते। छह महीने की अवधि में उन्होंने दो साधकों को वापस भेज दिया--यह कहते हुए कि ये अभी मानसिक कर्म करने के लायक नहीं हुए हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ध्यान-स्वाध्याय आदि मानसिक साधना की इच्छा करनेवाला हर व्यक्ति उसका अधिकारी नहीं होता। उसके लिये भी पात्रता अर्जित करनी होती है और यह पात्रता कर्म करने के माध्यम से ही प्राप्त होती है। जो व्यक्ति अपना नियत कर्म करता

है और अपना अनासक्ति का भाव बढ़ाता जाता है, वह धीरे-धीरे मानसिक कर्म के लिए अपने को अधिकाधिक तैयार करता जाता है। ऐसा तैयार व्यक्ति ही मानसिक साधना के लिए उपयुक्त होता है। जिसके जीवन में प्रारम्भ से ही ऐसी उपयुक्तता दिखायी देती है और प्रारम्भिक जीवन में जो विशेष शारीरिक कर्म करता हुआ नहीं दिखाई देता, ऐसी दशा में यही स्वीकार करना पड़ता है कि उसने पूर्वजन्म में ऐसे कर्म कर लिये हैं, जिनके फलस्वरूप इस जीवन में यह प्रारम्भ से ही मानसिक साधना का अधिकारी बना दिखायी देता है।

वैसे तो इस अध्याय के पाँचवें श्लोक में कहा कि कोई भी व्यक्ति बिना कर्म किये नहीं रह सकता और यदि वह रहना भी चाहे,तो प्रकृति के गुण उसे वैसा रहने नही देंगे, तथापि प्रस्तुत श्लोक में वर्णित'नियत कर्म' प्रकृति के गुणों द्वारा कराये जाने कर्म से भिन्न हैं। प्रकृति के स्वभाव से होने वाले कर्मों में व्यक्ति के यंत्र-मात्र बन जाने की बू है, किन्तु यह नियत कर्म ऐच्छिक होता है, इसमें व्यक्ति का पुरुषार्थ खेलता है,वह अपने कर्मों को इच्छानुसार मोड़ दे सकता है। जैसे, कोई व्यक्ति मोटर में बैठकर तीर्थयात्रा के लिए जाय और कोई पैदल। पहला व्यक्ति चलता नहीं, फिर भी वह लम्बी तीर्थयात्रा कर लेता है, परन्तु दूसरा व्यक्ति स्वयं चलकर जाता है। स्वयं चलकर जाने का आनन्द ही भिन्न है। प्रकृति के स्वभाव से चालित कर्म मानो मोटर में बैठकर यात्रा करना है

तथा ऐच्छिक कर्म मानो पैदल चलकर जाना है। और यह तो समझा ही जा सकता है कि सहज प्रेरित कर्मों की अपेक्षा ऐच्छिक कर्म कई गुना श्रेष्ठ हैं।

फिर, भगवान् कहते हैं कि अर्जुन, अकर्म से कर्म बढ़कर है। यह 'अकर्म' गीता में दो अर्थों में आया है--एक तो तमोगुण और प्रमाद से निकलनेवाली कामचोरी और दूसरा, ज्ञान की तीव्र अवस्था से निकलनेवाला नैष्कर्म्य। जीवन का लक्ष्य है नैष्कर्म्य, जहाँ कर्म तो तीव्र है, पर कर्तापन नहीं है। यह नैष्कर्म्य कर्म को छोड़ देने से अकर्म से नहीं मिलता, बल्कि वह कर्म से प्राप्त होता है। अकर्म से, निठल्ला पड़े रहने से तो शरीर की रक्षा भी नहीं हो पाती। मनुष्य को पेट भरने के लिए तो कर्म करना ही पड़ेगा। इसलिए कर्म की ओर दुर्लक्ष्य नहीं होना चाहिए। तैरने का उदाहरण देकर अकर्म, कर्म, और नैष्कर्म्य को हमने पूर्व में यों समझाया है। हम तैरना सीखने सरोवर में गये, पर भय के कारण जल में उतरने में हमें हिचक हुई। यह अकर्म है। हम जल में उतरकर हाथ-पैर मारते हैं। यह कर्म हुआ। और जब हम जल पर चित लेटकर चुपचाप पद्मासन लगाकर लेटे रहते हैं, तो यह नैष्कर्म्य की स्थिति हुई। इस नैष्कर्म्य को पाने के लिए कर्म से होकर ही रास्ता है, उसके लिए अकर्म का त्याग करना पड़ता है। इसीलिए भगवान् कृष्ण कर्म को अकर्म से बढ़कर बताते हैं। नैष्कर्म्य की मीमांसा हम पूर्व प्रवचन में कर चुके हैं। वह कर्मरहित

अवस्था नहीं है, भले ही वह वैसी दिखती हो। वह तो तीव्र कर्म की अवस्था है। जल पर चुपचाप चित पड़े रहने में कितना तीव्र कर्म लगता है, वह तो तैरने वाला ही जानता है। इस प्रकार हमें प्रस्तुत श्लोक में अकर्म से दूर रहने का तथा नियत कर्मों के दृढ़ता से पालन का निर्देश दिया गया है।

इस 'नियत कर्म' को 'गीता' में भिन्न भिन्न नामों से पुकारा गया है — यथा, 'स्वधर्म' 'सहजकर्म', 'स्वकम', 'स्वभावजकर्म', 'स्वभावनियतकर्म' आदि। इसी को फिर 'सात्त्विक कर्म' भी कहकर पुकारा है—

> नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
> अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ १८/२३

—'फल की इच्छा न करते हुए जो नियत कर्म आसक्ति-रहित और रागद्वेषरहित होकर किया जाता है, उसे सात्त्विक कर्म कहते हैं।' 'गीता' में बारम्बार नियत कर्म के त्याग की निन्दा की है—'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते (१८/७)—'नियत कर्म का त्याग करना योग्य नहीं है'।

इस प्रकार भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को तरह तरह से नियत कर्म करने के लिए समझाया। फिर भी अर्जुन को बात रास नहीं आयी। उसने तो यही जाना था कि कर्म ही बन्धन का कारण होते हैं। इधर भगवान पुनः पुनः उसे कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं। अर्जुन समझ नहीं पा रहा है कि वह क्या कहे और क्या करे।

श्रीकृष्ण अर्जुन की दुविधा ताड़ लेते हैं और वह उपाय बताते हैं, जिससे कर्म करते हुए भी कर्म का बन्धन नहीं लगता। वे कहते हैं—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥९॥

यज्ञार्थात् (यज्ञ के लिए) कर्मणः (कर्मों से अन्यत्र (भिन्न) अयं (यह) लोकः (संसार) कर्मबन्धनः (कर्मबन्धन से युक्त हो जाता है) कौन्तेय (हे अर्जुन) तदर्थं (उसके लिए) मुक्तसंगः (आसक्ति छोडकर) कर्म (कर्म) समाचर (करो)।

"यज्ञ के लिए किये गये कर्मों के सिवाय अन्य कर्मों से इस संसार में व्यक्ति कर्मबन्धन से युक्त हो जाता है, अतः हे कौन्तेय, तू आसक्ति को छोड़कर यज्ञ के निमित्त कर्म कर।"

इससे पूर्व भी कहा जा चुका है कि कर्म अपने आप में नहीं बाँधता, बल्कि फलाशा ही बन्धनकारक होती है। यहाँ पर उसी बात को और भी स्पष्ट करके बताया जा रहा है कि जो कर्म यज्ञ के लिए किये जाते हैं, उनसे मनुष्य को बन्धन नहीं लगता, पर वह जो दूसरे कर्म करता है, उनसे बन्धन लगता है। अतः उसे आसक्ति छोड़कर यज्ञ के निमित्त ही कर्म करन चाहिए।

यह यज्ञ क्या है? सामान्य रूप से यज्ञ कहने से अग्निहोत्र आदि होम-हवनरूप कर्मों का स्मरण हो आता है, पर यहाँ पर यज्ञ का वैसा अर्थ लेना उचित न होगा। कारण अर्जुन तो युद्धभूमि पर खड़ा है और वहाँ पर भगवान् कृष्ण का वैसा कहना नहीं बन सकता कि अर्जुन, तुझे अग्निहोत्रादि यज्ञ करने चाहिए।

यज्ञ का एक दूसरा अर्थ 'विष्णु' किया जाता है। 'तैत्तिरीय संहिता' में (१/७/४) कहा है-- 'यज्ञो वै विष्णु:'। इस आधार पर यज्ञार्थ का अर्थ हुआ विष्णु अर्थ-प्रीत्यर्थ, ईश्वर प्रीत्यर्थ। अर्थात्,हमारा कर्म ईश्वर-प्रीत्यर्थ हो, हम ईश्वर समर्पित बुद्धि से कर्म करें। परन्तु जब हम इसके बाद आने वाले श्लोकों पर विचार करते हैं, तो यज्ञ का अर्थ उस सन्दर्भ में समीचीन नहीं मालूम पड़ता। उन सब श्लोकों का एक साथ विचार करने पर यज्ञ शब्द का जो व्यापक अर्थ है, उसी का यहाँ पर प्रयोग करना होगा। 'यज्ञ' शब्द 'यज्' धातु से व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ होता है देवपूजा या एक साथ इकट्ठा करना, या दान। जिस कर्म में तीनों बातें होती हों, उसे यज्ञ कहा जा सकता है 'गीता' में दैवी सम्पदा से सम्पन्न व्यक्तियों को 'देव' कहा गया है। भगवान् कृष्ण कहते हैं–

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरश: प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥ १६/६

--'हे पार्थ, इस लोक में भूतों के स्वभाव दो प्रकार के माने गये हैं, एक तो देवों के जैसा और दूसरा असुरों के जैसा। उसमें देवों का स्वभाव ही विस्तारपूर्वक कहा गया है इसलिए अब असुरों के स्वभाव को भी विस्तारपूर्वक मुझसे सुन।' देवों का यह स्वभाव 'गीता' के इसी १६ वें अध्याय में श्लोक १ से ३ तक वर्णित हुआ है, जहाँ अभय, अन्त:करण की निर्मलता, ज्ञानयोग में दृढ़ स्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, ॠजुता, अहिंसा,सत्य, अक्रोध, त्याग

शान्ति, अदोषदर्शन, सर्वभूतों के प्रति दया, लोलुपता का अभाव, मृदुता, सौजन्य, अचपलता, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, अद्रोह, और निरभिमानता को दैवी सम्पदा के अन्तर्गत रखा गया है। जो भी व्यक्ति ऐसे गुणों से युक्त है, वह देव है और उसका आदर-सत्कार एवं पूजा करना देवपूजा कहलाती है। तो, यज्ञ का तात्पर्य हुआ ऐसे लोगों का सन्मान करना, ऐसे लोगों को इकट्ठा करना और दान के द्वारा समाज का हित करना। इसका अर्थ यह हुआ कि यज्ञ के माध्यम से दैवी सम्पदासम्पन्न व्यक्तियों को एक साथ लाकर उनका सम्मान करना और समाज के हित के लिए अपने धन का वितरण करना।

यज्ञ में त्याग और ग्रहण की क्रिया सतत चला करती है। हम समाज से जब लेते हैं, तब हमें समाज को देना भी चाहिए। जीवन का सन्तुलन आदान-प्रदान के नियम के सुरक्षित रहने में है। मेघ सागर से जल लेते हैं, तो पृथ्वी को देते भी हैं, जो अन्ततोगत्वा नदियों के माध्यम से सागर को ही पहुँच जाता है। सागर नदियों से जल लेता है, तो मेघ के रूप में देता भी है। वनस्पतियाँ पृथ्वी से जल और वायु आदि लेती हैं, तो फल-फूल-पत्तों के रूप में देती भी हैं। यदि सूक्ष्म विचार करके देखा जाय, तो इस विश्व में मनुष्य को छोड़कर समस्त प्राणी प्रकृति से यदि लेते हैं, तो देते भी हैं। एक बीज धरती से जल और वायु खींचकर धीरे धीरे विशाल वृक्ष बनता है और बदले में धरती को असंख्य बीज और

फल-फूल आदि प्रदान करता है। एक मनुष्येतर प्राणी अपने जीवन के लिए पृथ्वी से जो कुछ भी ग्रहण करता है, उसके बदले स्वाभाविक रूप से वह पृथ्वी को कुछ देता भी है-अपना मृत शरीर छोड़ जाता है,जो अन्य प्राणियों के भोजन के काम आता है, हड्डियाँ छोड़ जाता है, जो खाद आदि के काम आती हैं। केवल मनुष्य ही ऐसा है, कृतघ्न है, जो प्रकृति से लेता तो सब कुछ है, पर देते समय बड़ी कृपणता बरतता है। हम प्रकृति से दबा-दबाकर लेते ही रहते हैं और आजकल विज्ञान के साधनों के बल पर प्रकृति का और भी शोषण कर रहे हैं। इसीलिए प्रकृति में इतना असन्तुलन पैदा हो गया है। वर्षा समय पर नहीं होती, होती है तो कम होती है या फिर एकदम इतनी होती है कि बाढ़ आ जाती है। असमय हो कभी वर्षा हो जाती है। ये सब प्रकृति में असन्तुलन के लक्षण हैं। पूर्वकाल में जब यज्ञादि की परम्परा बहुत प्रचलित थी, तब भी प्रकृति में यह असन्तुलन तो था, पर उसकी मात्रा अपेक्षाकृत कम थी। किन्तु पुराकाल में जब यज्ञादि का स्वर्णकाल था, अर्थात् जब यज्ञ सही भावना से किये जाते थे और उनके द्वारा शोषण नहीं होता था, तब प्रकृति में जो संतुलन, वह आदर्श था। भगवान् कृष्ण का संकेत उसी आदर्श था सन्तुलन की ओर है, जब वे अर्जुन को यज्ञार्थ कर्म करने का निर्देश देते हैं। यदि हम उस संकेत को ग्रहण कर अपने जीवन के कर्मों को यज्ञार्थ बना डालें, तो हम सचमुच प्रकृति के बिगड़े हुए सन्तुलन

को बहुत दूर तक कम कर सकते हैं। यही बात आगे के सात श्लोकों में कही गयी है।

तो, यज्ञ का तात्पर्य केवल होम-हवन आदि से नहीं है। होम-हवनवाला यज्ञ केवल द्रव्यमय यज्ञ है। गीता' म अनेक प्रकार के यज्ञों की चर्चा है। पर यज्ञ का व्यापक अथ ह समर्पण करना, अथवा कि जसा हमने ऊपर मे कहा--देवपूजा, देवों को एक साथ इकटठा करना और देवो को दान। देव का तात्पर्य फिर से दुहरा दें। जो दैवीसम्पदा से युक्त है, उसे 'गीता' ने देव माना है। प्राचीन काल में बडे वडे यज्ञ होते थे। तब वर्ण-परम्परा ऐसी रूढ़ नही हुई थी, जैसी कि आज हो गयी है। तव जन्म के आधार पर वर्ण का निर्वाचन नहीं होता था। मनुष्य के गुण और कर्म ही उसके वर्ण को निश्चित करते थे। इसलिए किसी भी जाति में उत्पन्न व्यक्ति ऋत्विज और पुरोहित बन सकता था यदि उसमें उस प्रकार की रुचि होती। तब यज्ञ एक सामाजिक कार्यक्रम था जिसमें सभी वर्ण के व्यक्ति समान रूप से भाग लेते थे। भले ही वर्णों के न म ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र थे पर शूद्र के प्रति शेष तीन वर्णों में जो उपेक्षा की भावना सामान्यत: रहा करती है, उसका सर्वथा अभाव था। शूद्र वर्ग के व्यक्ति भी अपने गुणों के बल पर आदर और सम्मान के पात्र थ। उन यज्ञों में देवताओं के निमित्त आहु-तियाँ दी जातीं और उनके साथ ही विविध सांस्कृतिक कार्यक्रम भी आमोद-प्रमोद की दृष्टि से आयोजित किये

जाते। यज्ञ एक महोत्सव हुआ करता। यज्ञ मानो मनुष्य के द्वारा प्रकृति की शक्तियों के प्रति समर्पित होने का एक प्रतीक था। वायु से हम पोषण लेते हैं, तो बदले में उसे प्रदूषण ही तो देते हैं। इस प्रदूषण को दूर करने का एक उपाय यज्ञ था। हम नदी में नहाकर उसे अपनी गन्दगी देते हैं, तो इस प्रदूषण को दूर करने की दिशा में हम सांकेतिक रूप में उसमें दूध-चन्दन-पुष्प भी चढ़ाते हैं। यह आदान-प्रदान का क्रम ही यज्ञ कहलाता है। हम बिजली की बत्ती और पंखे का तो बिल चुकाते हैं, पर सूर्य से जो प्रकाश और हवा से श्वास लेते हैं, उसका कभी बिल चुकाया है? पानी के लिए हम नल का कर पटाते हैं, पर क्या कभी मेघ को जल-वर्षण के लिए कर दिया है? हम पर ईश्वर का ऋण तो बढ़ता ही जाता है। जो कर्म हम इस ऋण से उऋण होने के लिए करेंगे, उसे यज्ञ कहा जायगा। इसी अर्थ में भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि यज्ञार्थ कर्म करो। जो कर्म तुम यज्ञ-भावना से नहीं करते, वे बन्धनकारक होते हैं। यज्ञ ही जगत्-चक्र का परिचालन करता है। इस जगत्-चक्र के ठीक ठीक चलने में तुम सहयोगी बनो, यही भगवान् का तात्पर्य है।

अब प्रश्न उठ सकता है कि युद्धरूप कर्म से अर्जुन जगत्-चक्र के सही सही परिचालन में कैसे सहायक हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि, जैसा हम पूर्व में विवेचन कर चुके हैं, अर्जुन यदि युद्ध न करे, तो दुर्योधन

की विजय हो जाएगी। पाण्डव-पक्ष की पराजय मानो धर्म की ही पराजय होगी और कौरवों की विजय अधर्म की। इससे लोगों के मन में धर्म के प्रति निष्ठा घट जायगी। लोग कहने लगेंगे कि भाई, धर्माचरण व्यर्थ है, अधर्म की ही जीत होती है। इससे लोग धर्म के नियमों को ताक पर रख मनमानी करने लगेंगे और समाज में उच्छृंखलता का बोलबाला हो जायगा। इससे प्रकृति की शक्तियों में एक बहुत बड़ा असन्तुलन पैदा हो जाएगा और जगत्-चक्र के परिचालन में एक बहुत बड़ी बाधा उपस्थित हो जाएगी। अतएव ऐसे अधर्म को बढ़ने से रोकने तथा धर्म की रक्षा के लिए अर्जुन का युद्ध करना अनिवार्य है। इस प्रकार अर्जुन का युद्ध करना जगच्चक्र में सहायक होगा। और यदि अर्जुन ऐसा मानकर युद्ध करेगा कि मैं यज्ञ के ही निमित्त, जगच्चक्र को यथावत चलाने के ही निमित्त युद्ध कर रहा हूँ, तथा साथ ही यदि वह इस युद्धरूप कर्म के प्रति आसक्ति से रहित हो युद्ध करेगा, तो ऐसा घोर प्रतीत होनेवाला युद्धकर्म भी अर्जुन पर बन्धन नहीं डाल सकेगा।

इस प्रकार, कर्म के बन्धन से यदि हम मुक्त रहना चाहते हैं, तो उसकी दो शर्तें हैं---एक तो कर्म करना और दूसरे, कर्म के प्रति आसक्ति न रखना। जब कर्म के प्रति हमारी यह भावना होती है कि मैं जगच्चक्र के चलने में सहयोग दे रहा हूँ, यह मेरा स्वभावनियत कर्म है, इसका पालन मेरे लिए कर्तव्य है, यदि मैं यह नहीं करूँगा, तो

संसार-चक्र के घूमने में व्यवधान उपस्थित करूँगा, इसके द्वारा मैं किसी प्रकार अपनी स्वार्थ-सिद्धि नहीं चाहता, अपितु संसार का हित ही चाहता हूँ, प्रकृति के इस विराट् यज्ञ में मैं भी अपने सहज कर्म के पालन के द्वारा अपनी तुच्छ आहुति प्रदान कर रहा हूँ, तो ऐसा कर्म यज्ञार्थ हो जाता है। और जब ऐसे यज्ञार्थ कर्म को आसक्ति से रहित होकर करते हैं, तो वह कर्म से लगनेवाले बन्धन को काटनेवाला बन जाता है। हमें ध्यान रखना होगा कि कर्म के प्रति आसक्ति का भी त्याग करना पड़ता है। मनुष्य अपने कर्म को यज्ञार्थ तो बना ले सकता है, पर यदि वह कर्म से आसक्त हो जाय, तो ऐसा कर्म फिर कर्मबन्धन को काट तो पाता ही नहीं, उल्टे वह कर्मासक्ति उसके लिए एक नया बन्धन तैयार कर देती है। मान लीजिए मैं एक सेवा का कार्य कर रहा हूँ, मैंने अस्पताल खोल दिया है और उसके माध्यम से रोगी-नारायण की सेवा करता हूँ। जब मैं यह सेवा-कार्य निःस्वार्थ-बुद्धि से करता हूँ, तो वह यज्ञार्थ कर्म बन जाता है। पर यदि कभी उस कर्म को छोड़ने की नौबत आये और मैं उसे न छोड़ सकूँ, उसके प्रति आसक्त हो जाऊँ, तो फिर वह सेवा-कार्य ही मेरे लिए बन्धन बन जाता है। इसलिए भगवान् ने 'यज्ञार्थ' के साथ 'मुक्त-संग' कहना आवश्यक समझा। मेरा मानस ऐसा होना चाहिए कि जब कर्म को त्यागने का प्रयोजन उपस्थित हुआ, तो त्याग दिया। जब तक उसे करना पड़ा, तब तक

यज्ञार्थ भाव से किया। फलासक्ति के साथ साथ कर्मासक्ति का भी त्याग होना चाहिए—यही यज्ञार्थ कर्म का रहस्य है।

फिर, जब हम कर्म यज्ञ-भाव से करते हैं, तो यह भी ध्यान रखें कि उसमें किसी प्रकार की त्रुटि न हो। जैसे यज्ञ में हम किसी प्रकार का दोष नहीं रहने देते, सावधान और सतर्क होकर यज्ञ करते हैं, उसी प्रकार हमें अपने कर्मों को भी पूरी सावधानी और सतर्कता के साथ करना चाहिए और उन्हें निर्दोष रूप से सम्पन्न करने में उद्यमी होना चाहिए। तभी तो भगवान् कृष्ण 'योग' की एक परिभाषा 'कर्म की कुशलता' करते हैं, जब वे कहते हैं—'योगः कर्मसु कौशलम्', जिसकी विस्तार से चर्चा हम गीताध्याय २, श्लोक ५० की व्याख्या के प्रसंग में कर आये हैं।

एक सन्त से वार्तालाप (४)

स्वामी अद्भुतानन्द के संस्मरण

(स्वामी अद्भुतानन्द श्रीरामकृष्णदेव के अन्तरंग संन्यासी-शिष्यों में से थे, जो रामकृष्ण संघ में लाटू महाराज के नाम से परिचित हैं। उनके ये संस्मरण 'वेदान्त एण्ड दि वेस्ट' पत्रिका से साभार गृहीत एवं अनूदित हैं।--स.)

लाटू महाराज के एक जीवनीकार लिखते हैं: मैंने स्वामीजी (स्वामी अद्भुतानन्दजी) को कुछ दिनों तक यहाँ (सम्भवतः बेलुड़ मठ में) उस समय देखा था, जब स्वामी सारदानन्दजी यूरोप और अमेरिका से हाल में ही मठ वापस लौटे थे और मठ में रह रहे थे। तब स्वामी सारदानन्दजी बहुत चुस्त दिखायी देते थे तथा अपने कमरे एवं सामान को खूब स्वच्छ और व्यवस्थित जमाकर रखते थे। उस समय लाटू महाराज उनके कमरे में घुस जाते और दो-चार किताबें इधर उधर उलटी-सीधा रख, दवात को किसी कोने में छिपा देते तथा इसी प्रकार कुछ उलटा-सीधा करके कमरे को अस्त-व्यस्त कर देते। यह एक प्रकार से उनका नित्य का क्रम हो गया था। सारदानन्दजी के बिछौने की चादर एकदम शुभ्र सफेद होती। लाटू महाराज ने एक बार अपने मैले पैरों से उसे गन्दा बना दिया और फिर उस पर लेटकर वे लोटते रहे। और यह सब करते समय वे हँसते जाते। यह देख शरत् महाराज (सारदानन्दजी) ने उनसे पूछा, "यह क्या कर रहे हो, लाटू भाई ?" इस पर लाटू ने शरारत-भरी हँसी हंसते हुए कहा, "मैं सिर्फ यह देखना

चाहता था कि तुम यह तो नहीं भूल गये कि पहले वस्तुएँ किस प्रकार रहा करती थीं। मैं जानना चाहता था कि तुम कितने अँगरेज बन गये हो!" और तब तो शरत् महाराज भी हँस पड़े।

एक अन्य अवसर पर कई साधु लोग एक साथ नाव द्वारा मठ से बाहर कहीं जाने की तैयारी कर रहे थे। सिवाय स्वामी विवेकानन्दजी और सारदानन्दजी के सभी नाव में बैठ गये थे। स्वामी विवेकानन्दजी दूसरी मंजिल में अपने कमरे से उन लोगों के साथ जाने के लिए निकलते दिखायी दिये, इस पर स्वामी नित्यानन्द ने नाव में से चिल्लाकर कहा, "एक साहब तो दिख रहे हैं, पर दूसरे अभी भी अदृश्य हैं। हम उनके पुनीत आगमन की प्रतीक्षा में हैं!" लाटू महाराज ने इस पर कोई मजेदार बात कह दी, जिसके उत्तर में विवेकानन्दजी ने कहा, "तुम शैतान लोग क्या कह रहे हो? यद्यपि हम लोग साहब-जैसे दिखते हैं, पर यह जान लो कि हम लोग यह नहीं भूले हैं कि हम लोगों का वास्तविक स्थान जंगल में वृक्ष-तले है।"

९ सितम्बर, १९०० की रात्रि में स्वामीजी (विवेकानन्दजी) बेलुड़ मठ में विदेश से अप्रत्याशित रूप से वापस लौटे थे। एक गृहस्थ भक्त, जो उस दिन बेलुड़ मठ में ही थे, उसका इस प्रकार वर्णन करते हैं:—

रात्रि के भोजन के थोड़ी देर बाद ही आश्रम के माली ने आकर स्वामीजी लोगों से कहा कि कोई अँगरेज

साहब मिलने के लिए आये हैं। स्वामी प्रेमानन्दजी से कहा गया कि वे जाकर उनका स्वागत करें। सभी की यही धारणा थी कि स्वामी विवेकानन्दजी के कोई अंगरेज शिष्य आये होंगे। प्रेमानन्दजी आधी दूर ही गये होंगे कि मार्ग में ही उनकी उस विचित्र नवागन्तुक से भेंट हो गयी (जो दरवाजे से कूदकर भीतर घुस आया था!)। पहले अँगरेजी में थोड़ा वार्तालाप करने के बाद नवागन्तुक ने एकदम बँगला में बोलना शुरू कर दिया। पहचानकर हँसते हुए प्रेमानन्दजी ने कहा, "अरे नरेन्द्रदा, तुम हो ? आने के पहले वहाँ से तार (Cable) क्यों नहीं कर दिया ?"

तब तो सभी स्वामीजी लोग विवेकानन्दजी का स्वागत करने के लिए दौड़ पड़े--सिर्फ लाटू महाराज को छोड़, जो मठ के गंगाजीवाले घाट के किनारे बैठे थे। एक भक्त ने जाकर उन्हें स्वामीजी के आगमन का समाचार दिया। उसे उम्मीद थी कि लाटू महाराज एकदम उठकर अपने विदेश से लौटे गुरुभाई से मिलन के लिए चल पड़ेंगे, पर जब उसने लाटू महाराज में किसी भी प्रकार के उतावली के चिह्न नहीं देखे, तो वह चकित रह गया। यह नहीं बल्कि लाटू महाराज ने उस भक्त को वहीं गंगाजी के किनारे बैठकर ध्यान करने के लिए कहा। "इतना उत्तेजित होने की क्या आवश्यकता है ? यह ध्यान करने के लिए बहुत उपयुक्त समय है। बैठो, यहीं बैठो," ऐसा कहकर उन्होंने फिर कहा, "देखो,

गंगाजी कितनी शान्त हैं। ध्यान करो।"

उस भक्त की कष्टप्रद मनोदशा की कल्पना की जा सकती है। एक तरफ तो वह स्वामीजी की बातों को सुनने के लिए आतुर था, पर दूसरी तरफ लाटू महाराज के आदेश को टालने में भी असमर्थ था। इसी बीच स्वामीजी भोजन समाप्त कर घाट पर लाटू महाराज से मिलने के लिए आये। दोनों एक दूसरे का काफी देर तक आलिंगन किया। कुछ वार्तालाप के बाद स्वामीजी ने लाटू महाराज से पूछा, "क्या बात है, प्लेटो ? सभी लोग मुझसे मिलने आये, पर तुम नहीं आये ? क्या तुम मुझसे नाराज हो ?"

"मैं भला क्यों नाराज होऊँगा ?" लाटू महाराज ने उत्तर दिया, "मेरा मन यहीं रहने को हुआ इसलिए मैं यहीं रह गया।"

"मैंने सुना कि तुम मठ में ज्यादा दिन नहीं रहे। अपने खाने-पीने की व्यवस्था किस प्रकार करते थे ?"

लाटू महाराज ने उत्तर दिया, "क्यों, उपेन मुखर्जी मेरी सहायता करते थे। मैं उनके छापेखाने के कमरे में सोता था। यदि वे भोजन भेजना भूल जाते, तो मैं उनकी दुकान के सामने जाकर खड़ा हो जाता और वे समझ जाते तथा मुझे दो-चार आने पैसे दे देते।"

जब स्वामीजी ने यह सुना, तब ऊपर ताककर उन्होंने कहा, "हे प्रभो, उपेन पर कृपा करो।"

उस दिन चाँदनी छिटकी हुई थी। स्वामीजी ने आर-पार देखकर कहा, "गंगा की रुपहली लहरों को

देखो। नील नदी की लहरें बहुत कुछ इसी प्रकार की हैं।" कुछ समय तक बातें कर स्वामीजी मठ में वापस रात्रि-विश्राम के लिए चले गये। लाटू महाराज जहाँ थे, वहीं बैठे रहे और शीघ्र ही ध्यानमग्न हो गये।

दूसरे दिन सुबह ४ बजे एक भक्त ने पत्र डालने के लिए मठ से जाते समय देखा कि लाटू महाराज वही उसी मुद्रा में तब भी ध्यानमग्न बैठे हुए थे।

स्वामी अद्भुतानन्दजी ने उपेन बाबू के छापेखाने में रहते समय अपने खाने-पीने की व्यवस्था के सम्बन्ध में यों बतलाया था--"उन दिनों जब मुझे भोजन न मिलता, तब मैं उपेन बाबू के पास जाकर उनसे कुछ पैसे माँग लेता तथा दुकान से पूड़ी और आलू की तरकारी लेकर खा लेता। भगवान् को दया से मुझे बदहजमी की कोई शिकायत नहीं थी। न ही मुझे कभी किसी निश्चित समय पर किसी भक्त के यहाँ या अपने किसी गुरुभाई के पास भोजन के लिए उपस्थित होना पड़ता था। यदि ठीक समय पर भोजन न करो, तो दूसरे नाराज होते हैं यह देख मैंने दूसरों के यहाँ भोजन करना बन्द कर दिया था तथा बाजार से खरीदकर खाने लगा था। पर हाँ, यह जरूर है कि पैसा भक्तों का ही रहता। पर इससे स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं होती। मेरा समय अपना समय होता और मैं मौज में रहता।"

१८९६ साल में लाटू महाराज ने करीव आठ महीने कलकत्ते में बागबाजार के वोरवहार घाट पर बिताये थे।

एक भक्त गुजा भट्टाचार्य, ने अपना अनुभव लिखा है:-

मैं बीरबहार घाट पर एक संन्यासी को शास्त्र-चर्चाएँ बड़े ध्यान से सुनते हुए देखता था। प्रवचन के बाद में उनको चरणस्पर्श कर प्रणाम करता। वे कभी किसी से कुछ नहीं बोलते थे, सिर्फ एक कोने में शान्त, चुपचाप बैठे रहते। न कभी किसी से कुछ माँगते और न ही किसी को कोई आदेश देते थे।

एक दिन मैंने अपने एक मित्र पटल को उस विचित्र संन्यासी के सम्बन्ध में बतलाया था। इसलिए वह उसके बादवाले प्रवचन में आया। उसे सुनने का तो उतना आग्रह नहीं था, जितना कि उस साधु को देखने का था। जैसे ही उसने उसको गौर से देखा, वह बोल उठा, "अरे, क्या ये हमारे लाटू महाराज तो नहीं?" प्रवचन के शेष होने पर वह संन्यासी के पास गया तथा केश एवं दाढ़ी बढ़े होने के बावजूद उसने लाटू महाराज को पहचान लिया। "आप यहाँ कैसे महाराज?" उसने कहा। "हमारे साथ चलिए। क्या आप नहीं जानते कि स्वामीजी (विवेकानन्दजी) शीघ्र ही कलकत्ता लौटनेवाले हैं?"

"वे कब आ रहे हैं?" लाटू महाराज ने पूछा।

निश्चित तिथि न मालूम होने से हम लोग चुप रह गये। तब लाटू महाराज ने हम लोगों की ओर देखा और कहा, "अच्छा, ठीक है, चलो।"

आनन्दित हो हम लोग उन्हें अपने घर ले गये। दूसरे दिन ही हम लोगों ने नाई को बुलाकर उनका

मुण्डन करवा दिया। तीन-चार दिन हम लोगों के साथ बिताकर वे बलराम बाबू के घर चले गये।

श्रीरामकृष्णदेव के लीला-सवरण के कुछ समय पश्चात् ही श्री माँ (सारदादेवी) तीर्थयात्रा पर गयी थीं। साथ में लक्ष्मीदीदी, निकुंज देवी (नाग महाशय की पत्नी), गोलाप-माँ तथा स्वामी योगानन्द एवं अदभुतानन्द थे। यात्रा का पहला पड़ाव देवघर में था। वहाँ शिवजी की पूजा करने के पश्चात् वे लोग वाराणसी के लिए रवाना हुए। वहाँ तीन दिन तक रुककर उन्होंने विभिन्न मन्दिरों के दर्शन किये तथा अनेक साधु-महात्माओं से वार्तालाप किया। वहाँ वे सुप्रसिद्ध सन्त एवं विद्वान् भास्करानन्दजी के पास भी गये थे। लाटू महाराज की उनसे काफी देर तक बातें हुई थीं। वे बतलाते--

"स्वामी भास्करानन्द ने मुझसे कहा था, 'अपना समय घूमने में नष्ट न करो। एक स्थान म बैठकर उनको पुकारो, तब उनकी कृपा जरूर होगी। मैं जब युवक था, तब बहुत से तीर्थों में तथा बहुत से साधुओं के साथ रहा। मैंने पैदल ही चारों धाम (बद्री-केदार, पुरी, द्वारका और रामेश्वर) के दर्शन किये थे। इस सबके बावजूद मुझे बहुत कम उपलब्धि हुई थी। मैं पहले के समान ही अज्ञानी और दुःखी बना हुआ था। तब कहीं मैं इस बगीचे में आकर बैठा और अपने आप से कहा--मैं यहीं पर ईश्वर-दर्शन करूँगा, और नहीं तो मेरा शरीर खत्म हो जाय। अब कहीं मुझे थोड़ा बहुत स्थायी आनन्द मिला है।"

स्वामी अखण्डानन्द का एक हिन्दी पत्र

स्वामी अखण्डानन्दजी श्रीरामकृष्णदेव के अन्तरंग संन्यासी-शिष्यों में अन्यतम थे। उन्हें हिन्दी का अच्छा ज्ञान था तथा वे उसमें लेखन भी अच्छा कर लेते थे। हम यहां स्वामीजी का अलमोड़ानिवासी लाला बद्री साह को लिखित एक हिन्दी पत्र उद्धृत कर रहे हैं। हमने इस पत्र में किसी प्रकार का सशोधन नहीं किया है और जानते में उसे हू-ब-हू ही रखा है। इस पत्र में भारत के गरीबों और किसानों की उन्नति के लिए स्वामीजी की छटपटाहट दर्शनीय है। --स०)

श्री श्रीरामकृष्णः शरणम् ॥

मेवाड़
नाथद्वारा

श्रीयुत साहजी महाशय !

आपकी भेजी हुई एक चिट्ठी और एक पौंड चा यहां यथासमय में पौंच गई हैं। स्वामी सुबोधानन्दजी के मठ में कुशल पौंचने का सवाद पढ़कर मुझे बहुत ही हर्ष हुआ।

आजकल आपके वहां श्री श्री गुरु महाराज की सेवा कैसी हो रही है ? मठ से हमेशः आपको संवाद मिलते है या नहीं ? आज कल आपके कौन कौन भाई पढ़ते हैं ? आपके व्यापार कैसा चल रहा है ? भाइओं को बराबर पढाते जाइये। बिना काम समय वृथा व्यतीत नहीं करना। आलस्य सर्वानर्थ का बीज है। इस से खुब सावधान रहना। भारत के प्रायः समस्त

धनाद्य [ढ्य] लोगों में ही आज इस पाप बीज को फसल खूब जोर से हो रही है। जिनके घर में कुछ खाने का है वे तो और किसी की परवा ही नहीं रखते हैं और सारी पृथ्वी तो उनके सामने एक कटोरी सो मालूम होती है। परन्तु वे मूढ़ तो यह जानते ही नहीं कि आज दिन भारत में जो कुछ सुख दिख पड़ता है वह फक्त एक तरह का ऐन्द्रजालिक व्यापार हैं नहीं तो दर असल आजदिन भारत में किसी की रोटी तक भी नही है। अब इस दुःसमय में भारतवासिओं को क्या २ कर्म्म करना चाहिये ? मेरे समझ में किसानों के पहले उन्नति साधन करना चाहिये। क्यों कि भारत की साधारण लोग संख्या में सब ही किसान हैं। भारत मे २५ करोड़ मनुष्य हैं उनमें सैंकड़ों ८३ मनुष्य किसान निकले हैं। अब आप विचारिये २५ करोड़ मनुष्यों में कितने किसान होंगे ? और ये लोग ही और सर्व्व साधारण के अन्नदाता और वस्त्रदाता हैं। परन्तु भारत में आज ऐसा विपर्य्यय हो रहा है कि, वे लोग ही नंगे और भुखे मरते हैं। सिकन्दर बादशाह भारतीय किसानों के हाल देखके चकित हो गये थे उस वक्त भारत में ऐसी राजकीय व्यवस्था थी कि चाहे देश में कैसी ही आपद विपद हो परन्तु वे लोग निरन्तर निरापद और निश्चिन्त रहते थे आज उन्हीं लोगों के उपर हर तरह की आपद विपद हो रही हैं। इस महापाप का दो जन मुख्य कारण हैं एक तो राजा लोग और दूसरा महाजन

लोग। दोनो तरफ से दो महा असुर इनको खाते आते हैं परन्तु तो भी वे पवित्र निष्काम कर्म्म परायण किसान लोग अपने स्वधर्म को नहीं छोड़ते हैं। ओह! धन्य उनके स्वार्थत्याग! धन्य उनके धैर्य!! और धन्य उनके श्रम!!! वे भी अगर आज खफा होकर अपने २ हल और काम छोड़ दें तो नगरवासी राजा और प्रजाओं का क्या हाल होगा? यह कोमल गद्दी फिर कहां से आवेगी? यह सरस अन्न फिर कहां से आवेगा? ये साल [शाल] दो साले [दुशाले] कहां से आवेंगे? ये सब धन उन्हीं के श्रम साध्य हैं। परन्तु अत्याचारी राजा और नगरवासी प्रजा अन्याय करके उनके बहुश्रम साध्य धन से उन्हीं को वञ्चित कर रही है। तो भी वे मेषवत् किसान लोगों के पवित्र हृदय में प्रतिहिंसा रूप कीट का प्रवेश नहीं हो सकता है। अव आपको तो इसमें कुछ सक् [शक] नही है कि वे किसान और मिहनती लोग ही मनुष्य समाज की खाश बुनियाद हैं और मनुष्य समाजरूप शरीर का नसाजाल हैं वे नहीं हो तो मनुष्य समाज को स्थिति एक क्षण भर भी नहीं बन सकती है। इसलिये आपसे मेरी यह प्रार्थना है कि आप वहां के पार्व्वतीय किसानों को अधिकतर अल्प ब्याज से रूपैयां उधार दीजिये और आप के भाईओं में से किसी को कृषि विद्या से वाकिफ कर उनसे उन लोगों को भी इस विद्या से वाकिफ करावें। भारतीय किसान लोग कृषि विद्या से ऐसे मूर्ख हो रहे हैं की रीतियां भी नहीं जानते हैं। अब आप विचारिये खाश बुनियाद में ही जब ऐसी कमजोरी रही, तो सारी इमारत कैसे मजबुत

रहेगा। यह बात कभी सम्भव नहीं है । इसीलिये मैं आपको कहता हूँ कि आप अपने स्वधर्म्म को न छोड़ें गीता में भगवान ने कहा है कि :— "कृषिगोरक्ष-वाणिज्यं वैश्य कर्म्म स्वभावजम्" । इनमें कृषि और गोरक्षा ही सर्वप्रधान हैं क्यों कि गायों की उन्नति बिना कृषि को उन्नति नहीं हो सकती है और कृषि की उन्नति बिना वाणिज्य की उन्नति नहीं हो सकती है। अत आप एक कृषिगजट' मंगवाकर उसे उल्था करवाके उसकी जो कोई तरकीब आपके उस देश में उपयोगी हो उससे अगर आप वहां की जमीन की उतपादि शक्ति बढ़ा सके तो उस कर्म्म से आपका आर्थि लाभ और किसानों को वह तरकीब मालूम होने समस्त भारत में महालाभ पौंचेगा ।

मैं स्वामी विवेकानन्द जी का आज्ञानुसार यहां के जनसाधारण में विद्या प्रसार करने की कोशिश कर रहा हूँ परन्तु यहां ऐसे देश हितैषी कोइ नहीं है कि जो मेरे इस काम में कुछ मदद करें। एक महीने से उपर हुआ एक बंगाली बाबु मुंमई से मेरे पास यहां आये हैं जो कि मेरे श्री १०८ श्री श्री गुरुमहाराज के एक भक्त है। वे यहां के कतिपय बालकों को पढ़ा रहे है । परन्तु फक्त एक उनसे काम चलना मुश्किल है। आपके जानने से ऐसा कोई सदाशय महापुरुष है कि जो अपने स्वार्थ त्याग करके भारत के गांव २ नगर २ विद्या और नीति दान कर सकें? किमधिकमिति मेरा शुभाशीर्वाद आपको मालूम हों और सब को मालूम करें इति आपका अखंडानन्द ॥

०